श्रीकृष्ण-
सन्देश
वर्ष : ५ • अंक : ७

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथा धनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥

श्रीमद्भाग० १०।३२।२०

'सखियो ! जो प्राणी मेरा भजन करते हैं उनसे मैं अपना प्रेम इसलिए प्रकट नहीं करता कि उनकी प्रीति अधिक बढ़े। जैसे किसी निर्धनको धन मिले और फिर नष्ट हो जाय तो वह धनकी चिन्तामें सब कुछ भूल जाता है।'

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक
ब्रह्मलीन श्रीजुगलकिशोर बिरला

वर्ष : ५ अङ्क : ७
फरवरी, १९७०

वार्षिक शुल्क : ७.००
आजीवन शुल्क : १५१.००

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा
दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

प्रत्यक्षदर्शियोंके उद्गार

(फरवरी १९७०)

★

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान आकर और इस दिव्य मन्दिरको देखकर बहुत प्रसन्नता हुई ।

गंगाप्रसाद बिरला
बिरला हाउस, कलकत्ता

अतीतमें, जन्म-भूमिसे सम्बद्ध वादके विषयमें सुना था । वादका निर्णय जानकर एक अनजाना आनन्द मिला । तभीसे लालसा थी कि दर्शनका पुण्य-लाभ पाऊँ । ढाई वर्ष पूर्व मथुरा आनेपर मेरे प्राथमिक कार्योंमें यह दर्शन भी था । उदार और भव्य कल्पको देखकर यही लगा कि यह श्रीकृष्णके अनुरूप ही श्रद्धाञ्जलि है । गौरवमयी हिन्दू-संस्कृतिका बोध, इसे देखकर हर आगन्तुकको सहज ही हो जाता है । प्रत्येक सहृदय इस उदार कल्पमें योग दें । यही मेरी प्रार्थना है ।

हरीमाधवशरण पी० सी० एस०
डिप्टी कलक्टर, मथुरा

आनन्दकंद भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानकी उपयोगिता हिन्दू समाजने महसूस की है तथा स्थानके अनुरूप ही निर्माण कार्य चल रहा है जिसको देखकर दिलको अत्यन्त प्रसन्नता होती है ।

सीताराम गुप्ता
श्री महावर आयरन स्टोर
मण्डी गोविन्दगढ़
जि० पटियाला (पंजाब)

भगवान्‌की दयासे जन्मस्थान तथा मन्दिरका दर्शन हुआ । लगभग पाँच हजार वर्षसे अधिक प्राचीन स्थानके शोध-कार्यमें जिन महानुभावोंने उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है, वे सब धन्यवादके पात्र हैं तथा उन सभी महानुभावोंसे जो दर्शनार्थ पधारें, प्रार्थना है कि इस महान् कार्यमें सहयोग देनेकी कृपा करें ।

मणीभाई जे० पटेल, एम० पी०
महात्मा गांधी रोड
सागर सिटी (मध्य प्रदेश)

मुझे आज कृष्ण-जन्मभूमिके दर्शन प्राप्त करनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। भगवान् कृष्णकी मनमोहिनी मूर्ति देखकर श्रद्धाका स्रोत उमड़ पड़ा। यह प्रतीत हुआ कि भगवान् यहीं हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि यह स्थान हिन्दू-धर्मके लिए प्रेरणाका केन्द्र बनकर रहेगा।

सुरेशचन्द्र बन्सल
अधिशासी अभियन्ता (भवन-खण्ड)
परिवहन संघटन
लखनऊ

I am extremely happy to visit the Janmasthan of Lord Krishna a place of pilgrimage to all us. As we move about here one feels devine inspiration within him. I am glad to learn that the persons incharge of this place take a keen interest in the management and shortly a very fine temple known as Bhagawat Bhawan is going to be erected here. I am grateful to the people here for taking me a round and I am sure, by the grace of lord Krishna, this place will soon become a great attraction to the devotees.

S. N. Raina
Judge High Court of Gwalior (M. P.)

This is a very historical site in India and is very well maintained.

Air Marshal M. M. Engineer
A. O. C. In-C Western Air
Command
New Delhi

I was extremely glad to see and visit Shrikrishna Janmasthan. We in South India have only heard of the Sanctity of the place. Some good souls have taken as their

mission in life to renovate and renovate beautifully the sacred place. I wish them all success. This place will be a source of encouragement to people professing Hindus religion. Jai Shri Krishna !

Mr. Pallancampen
189—Raja Street
Coembatore
Tamil Nadu (Madras State)

We consisting 536 Buddhists from different parts of Nepal are on tour by a special Train allotted to us from the Rly. Bourd, Govt of India in a comfortable way to visit the Buddhist sacred places as well as historical and cultural places in your lovely and freindly country of India. We in our programme visited the Birth-place of Lord Krishna and are very pleased to see it. May the proposed temple be built as soon as possible in an incomparision style. We thank all the people and officials of India who are receiving us warmly in each and every places of India. May the freindship of our both countries ever remain as long as the Dharam of Buddha and Krishna remain. Thanking once again to the Trust of the Krishna Janmabhumi.

Tirth Narayan Manandhar
Asst. Secry. Jaunmala
Bhajan Khalab
On Behalf of Buddha Tirth-
yatra Commettee
Ganamahabihar
Kathmandu (Nepal)

★

श्रीहरिः

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिकता, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोधको जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

● **नियम :** उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें छापने, न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक ही पृष्ठपर बायें हासिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख सम्पादक—'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, कैलगढ़ कालोनी, जगतगंज-वाराणसीके पतेपर भेजें।

● 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एक बार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चंदेमें उनके जीवन भर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकोंको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनिआर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

● **विज्ञापन :** इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :
व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

श्रीकृष्ण-सन्देश

वर्ष : ५] मथुरा, फरवरी १९७० [अङ्क : ७

ज्ञानकी पहचान

ज्ञानी कभी मानी नहीं हो सकता। मान क्या है, अपनेमें बड़प्पनका अभिमान। यह अभिमान देहको धन-वैभव और योग्यताको लेकर होता है। ज्ञानीकी दृष्टिमें एक मात्र परब्रह्म ही सत्य है। उसीमें यह मिथ्या जगत् अध्यस्त है। ब्रह्म सम एवं दोष रहित है—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म।' अतः बोध सम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष समदर्शी होता है—'पण्डिताः समदर्शिनः।' कर्तृत्वका अभिमान भी अज्ञानीको ही होता है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मान्यते' प्रकृतिके सत्त्वादि गुणों द्वारा ही सारे कर्म संपादित हो रहे हैं। फिर व्यर्थ कर्तृत्वका बोझ अपने ऊपर कौन बुद्धिमान् पुरुष लादेगा? ज्ञानी किसीको छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा अथवा अपना-पराया नहीं मानता। वह एक मात्र आत्माका ही सर्वत्र अनुभव एवं साक्षात्कार करता है। अतः निश्चित जानो, जहाँ मान-अभिमानका लीला-लास्य चल रहा है वहाँ ज्ञानका नाम भी नहीं है, उसे केवल अज्ञानका ही विलास समझो। ज्ञानका दूसरा लक्षण है—दम्भका सर्वथा अभाव। दम्भ धोखा है, दिखावा है, छलना है, जो अज्ञानके अन्धकारमें ही संभव है; ज्ञानके प्रकाशमें नहीं। जैसे दिन और रात, एक साथ नहीं रह सकते उसी प्रकार ज्ञान और दम्भका साहचर्य भी असम्भव है, दम्भ या दिखावा स्वार्थ-साधनके लिए किया जाता है। जिसका परम स्वार्थ आत्मा ही है,

वह दम्भको क्यों अपनायेगा ? क्या कोई प्रकाशको पानेके लिए अन्धकारकी शरण लेना चाहेगा ? कदापि नहीं।

अहिंसा भी ज्ञानका ही परिचायक है। ज्ञानवान् किसीकी हिंसा नहीं कर सकता, मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसीको कष्ट नहीं पहुँचा सकता। हिंसा होती है वैर तथा विरोधसे, और वैर-विरोध सदा दूसरोंसे ही होते हैं, अपनेसे नहीं। जिसकी दृष्टिमें सर्वत्र आत्मा है, जो 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'वासुदेवः सर्वम्' इस सत्यका साक्षात् कर चुका है, वह किससे वैर-विरोध करेगा ? क्षमाभाव और सरलता—ये सद्गुण ज्ञानवान्के आभूषण हैं। जो ज्ञानपरशुसे काम-क्रोधरूपी तरुका मूलोच्छेद कर चुके हैं, वे किसी पर क्रोध नहीं करते, फिर उनके लिए क्षमाका प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सानन्द सहन करना ही उनकी क्षमा है। सरलता ज्ञानवान्का सहज गुण है। वक्रता पराये लोगोंके प्रति ही होती है। जहाँ परायापन अपनापनमें परिवर्तित हो चुका है, वहाँ सरलतापूर्ण सद्व्यवहार ही सम्भव है। आचार्योपासना ज्ञान-प्राप्तिका साधन है और ज्ञानीका स्वाभाविक गुण। जिस आचार्यकी कृपासे अपना अज्ञानान्धकार दूर होकर ज्ञानका प्रकाश मिला वह तो साक्षात् परब्रह्म है आत्मा है; उसकी उपासना परब्रह्म-साक्षात्कारका ही स्वरूप है। ज्ञानके आलोकमें अभेदोपासना स्वतः चलती रहती है। शौच (बाहर-भीतरकी शुद्धि) भी परम आवश्यक है ज्ञानका प्रकाश पानके लिए। अन्तःकरणकी स्थिरता और आत्मविनिग्रह (शरीर मन तथा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण) ज्ञानके ही अङ्गभूत हैं। अस्थिर, अनियन्त्रित चित्तमें आत्मज्ञानका प्रकाश नहीं प्रकट होता। विषयोंके प्रति वैराग्य और अहंकार शून्यता हुए बिना ज्ञान कहाँ ? अतः ये ज्ञानके ही परिचायक हैं। संसारमें जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) और व्याधि (रोग) आदिकी प्राप्ति होती है, इनमें बार-बार दुःख एवं दोष देखना ज्ञानका लक्षण है। स्त्री-पुत्र तथा घर आदिमें आसक्तिका न होना, ममताका दूर हो जाना, प्रिय और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम होना—इन सबको ज्ञान समझो। ज्ञानीमें ही इनकी स्थिति पायी जाती है। मुझमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना भी ज्ञान ही है। एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव भी ज्ञानका ही लक्षण है। विषयासक्त जन-समुदायमें प्रीतिका न होना ज्ञान है। अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थिति ज्ञान है तथा तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना भी ज्ञान है। ये सारे सद्गुण ज्ञानके अन्तर्गत हैं, इसके विपरीत जो कुछ भी है, वह अज्ञान है। जो ज्ञानसूचक गुण हैं, वे ज्ञान योगीके द्वारा सतत धारण करने योग्य हैं।

●

मानव-जीवनके अस्तित्वके आधार

अग्नि और तेजस्

श्रीशिवशंकर त्रिपाठी शास्त्री, एम० ए०

★

भारतीय संस्कृतिकी अविच्छिन्न धाराका मूल है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और यह ज्योति अथवा तेज समग्र संसारका आधारभूत सार है। तेज ही वस्तुतः मानवके अस्तित्वकी प्रतीति करानेवाला तथा अतेज उसके ह्रासका परिचायक है। क्रान्तदर्शी वैदिक ऋषियोंकी दूरदर्शिनी प्रतिभाने इसी आधारपर आधिदैविक क्षेत्रमें अग्नि, इन्द्र और वरुण आदि देवताओंमें ही उस परमात्माकी शक्तिका आभास स्वीकार किया था—'परमात्मा एक ही है—ज्ञानीजन उसे ही अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, वरुण, मित्र, सुपर्ण और गरुत्मन् आदि संज्ञाओंसे अभिहित करते हैं। तेज तथा ज्ञानस्वरूपके कारण वह अग्नि, ऐश्वर्यवान् होनेसे वह इन्द्र तथा वही जगन्नियन्ताके रूपमें कहा जाता है—

> **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
> **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥**

उस तेजकी प्रतीतिका ग्रहण हमारे लिए सूर्य, चन्द्र तथा अग्निके माध्यमसे सुलभ है—प्रथम सूर्य सर्वाधिक तेजस्वी और दूरवर्ती होनेके कारण हमें तेजके आभासका ग्रहण करानेमें अति अल्परूपसे समर्थ है, दूसरा साधन है चन्द्र और तीसरा अग्नि अत्यन्त ही निकटवर्ती होनेसे हमें तेजके भासकी प्रतीति सहजतासे करानेमें विशेषतः सक्षम है। यही कारण है कि अग्निका महत्त्व मानव-जीवनमें सर्वोपरि माना जाता है। वस्तुतः यह अग्नि ही सृष्टि है, जिसे हम दूसरे शब्दोंमें स्थूल सृष्टिकी अन्तस्तलस्थायिनी भागवतरूपिणी तपःशक्तिका रूप भी कह सकते हैं। यही अग्नि सृष्टिके कण-कणमें, उसके अनन्त अन्तरतममें, निश्चेतना, विजन एवं अदृष्ट गह्वरमें सर्वथा स्थित है और यही—

> **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**

अग्नि जब विश्व-प्रांगणमें अवतीर्ण हुआ तो तुरन्त विभिन्नरूपोंमें परिवर्तित होकर उसने समस्त जड़, चेतन, स्थावर-जंगम जीवोंको अपनी सत्तासे परिव्याप्तकर पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। इतना ही नहीं, हमारे वैदिक ऋषियोंने अपनी ऋचाओंमें इस अग्निकी स्तुति करते समय कहा—'धरतीसे लेकर स्वर्ग-पर्यन्त, सर्वत्र व्याप्त होकर यह अग्नि इस सृष्टिमें विद्यमान है और यही इस धरतीपर अंकुरित, अवतरित अथवा उत्पन्न होनेवाले समस्त वनस्पतियोंमें भी समावर्तितरूपमें समाविष्ट है। अग्निकी इस व्यापकतासे अपने स्रष्टाकी समस्त सृष्टिका एकाकार रूप देखकर ऋषियोंने उस वैश्वानरकी स्तुतिमें कहा—'हे अग्नि, हे वैश्वानर, तुम हमें अपने तेजका दान दो, जिसके बलसे हम शत्रु एवं जीवित भयसे मुक्त हों

और तुम्हारा यह तेज हमारे अन्तर्मनके लिए इस भाँति उत्प्रेरक बन जाय कि मैं अतुल सम्पदाओंका स्वामी बन सकूँ। हे अग्नि, तुम ही हमारी समस्त आपदाओंमें नैयाके संवाहक-स्वरूप हो, इसलिए तुम हमारी सदा सहायता करो।' भाव यह कि तेज (अग्नि) ही हमारी चेतनाका परम प्रतीक, उसका प्रेरक, पोषक तथा उद्घोषक है। यही कारण है कि हम सर्वत्र इस तेजका विविध रूपोंमें स्तवन, अभिनन्दन अथवा उसके रूपका वर्णन करते हैं।

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोप ह्वये श्रियम्॥

लक्ष्मीके आवाहनमें भी उसी तेजकी उपासनाका स्वर है—'जो साक्षात् ब्रह्मरूपिणी, मन्दस्मितसनाथा, सौन्दर्यशालिनी, स्वर्णभूषणोंसे आवृत, अत्यन्त तेजोमयी, पूर्णकामा, भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाली और कमलासना हैं, उनका मैं सादर आवाहन करता हूँ। और हे दीप्तिदुहिते, ज्योतिर्मयी! हमें इस जीवलोकमें सदा यशस्वी बननेका वरदान दो—

तद् वो दिवो दुहितरो विभाति रूपं ब्रुव उषसे यज्ञकेतुः।
वयं स्याम यशस्वो जनेषु तद् द्यौश्च धातां पृथिवी च देवी॥

यह तेज अग्निके रूपमें हमारे दैनिक क्रिया-कलापोंके हर क्षेत्रमें हमारी प्रेरणाका आधार है। तमपर विजय प्राप्त करना ही तेजस्विताका परिणाम है। वह तम चाहे गृह-कक्षका हो अथवा अन्तर्मनका गहनतम अज्ञान हो, सर्वत्र यह तेज हमारी चेतनाका प्रतीक बनकर हमें सक्षम बनाता है। यही कारण है कि एक लघु दीपककी ज्योतिसे भी हमारे हृदयमें उस महातेजके स्वरूपका आभास हो उठता है जिसको लोकोत्तर गुणोंसे प्रभा-वित होकर भारतीय आर्षभावनाने उसे भी चिरन्तन ज्योतिकी संज्ञासे अभिहितकर सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर दिया है। उपनिषत्कारने उसे ही सूर्य, चन्द्रमा और तारिकाओंको भी प्रकाशित करनेवाला कहा है और उसके अभावमें वे सब निस्तेज हैं—**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकम्**। वस्तुतः सूर्य ही स्थूल रूपमें उस महत्तेजका प्रधान अंश है और सूर्यकी ही सूक्ष्म सत्तामें हमें उसके आभासकी प्रतीति मिलती है। यही कारण है कि समस्त धर्मावलम्बियोंने इसी तेजको सृष्टि-रचनाका मूल उद्घोषित किया है—

सूर्य ब्रह्मसमं ज्योतिः। —(यजु० २३।४८)

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥
—(यजु० ४०।१)

तव मे पृथिवी पञ्चमानव येभ्यो ज्योतिरमृतम्।
मर्तेभ्यः उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥
—(अथर्व० पृथिवी १२।१)

भगवान् श्रीकृष्णने भी श्रीमद्भगवद्गीतामें तेजके प्रतीक अग्निका रूप स्पष्ट करते हुए कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥—(गी०)

वैदिक ऋषियोंने इस तेजको आत्माकी ज्योतिके रूपमें स्वीकार कर दीप तकको अपने दैनिक जीवनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया था और उन्होंने इसे लौ, अग्नि आदि संज्ञाओंसे अभिहित किया। वे स्पष्टतः ब्रह्मकी दिव्य शक्ति स्वरूप मानकर अग्निको सर्वपूज्य रूपमें प्रतिष्ठित करते थे। ऋग्वेदके प्रारम्भमें ही कहा गया है—**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥**—ऋग्वे० १।१।१। (मैं अग्निकी उपासना करता हूँ, यह अग्नि प्रकाशमान देवता, पुरोहित एवं होताका रूप है।) इतना ही नहीं, अग्नि (तेज) को मरणधर्मवाले प्राणियोंमें प्रकाशके रूपमें स्वीकार किया गया है—**ज्योतिरमृतं मर्त्येषु**। इसीके सहारे यज्ञमें अन्य देवोंका भी आवाहन किया जाता है—

महत्तदुल्वं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥
एहि मनुर्देवयुर्यज्ञकामोऽरंकृत्या तमसि क्षेष्यग्ने।
सुगान्पथः कृणुहि देवयानान्वह हव्यानि सुमनस्यमानः॥

हे जातवेदा, तुम तो अपनी जन्मकथा स्वयं जानते हो और तुम्हारे विराट् विश्वदेहका दर्शन आदिदेवने किया है। परन्तु आज हमारा निवेदन है कि आओ यह मनोमय जीव यज्ञमुखी हो चुका है। वह सारे उपकरणोंके समेत उपस्थित है। केवल तुम ही देवत्वगामी पथको प्रशस्तकर सुगम बना सकते हो। अतएव आकर हव्यभारको वहन करो। यही नहीं ऋग्वेदका ऋषि इस अग्निको स्पष्टतः मानव के अन्तर्जगतका परम आलोक प्रदान करने वाला कहा है—

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि।
समानो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम॥

—(ऋग्वेद ७।४।४)

हे प्रकाशक अग्नि, तुम अकवियोंमें कवि होकर और मर्त्योंमें अमर्त्य होकर सदा समाहित रहते हो। तेजस्विन्! तुमसे इस लोक में हमारी कोई हानि न हो। तुम हममें ऐसी शक्तिका संचार कर दो जिससे हम निरन्तर जीवनमें हर्ष और उल्लासका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें और 'हे वैश्वानर, अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोक मात्र तुम्हारे ही व्यवहार सीमाके अन्तर्गत समाहित हैं, क्योंकि तुम प्रकाश द्वारा व्यक्त होकर पृथिवीसे आकाश तक अपने तेजको व्याप्त करते रहते हो' (ऋग्वेद ७।५।४)। फिर वैदिक मनीषाने इस तेजकी व्याख्या निम्न पदोंमें करके सर्वोपरि प्रतिष्ठाको घोषणा की है—

स इत्तन्तुं स वि जानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन्॥

—(ऋग्वेद ६।९।३)

यही जीवनका ताना-बाना है। वही समय-समयपर ज्ञानको प्रकाशित करता है। जो प्रकाश अमृतत्वका रक्षक है, वह नीचेकी ओर चलता हुआ, ऊपर अन्यरूपोंसे देखता हुआ इस समग्र जगतको चेतना-शक्ति प्रदान करता है।

अवतार-विग्रहोंकी अनुभूति कैसे होती है ?

अवतारका प्रकाश

श्री केशवदेव आचार्य

★

अवतार-सम्बन्धी अपने पहले लेखोंमें हम यह दिखला चुके हैं कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी भगवान् जब मानव-जातिके विकासमें सहायता देनेके लिए मानव देह धारण करते हैं और अपने दिव्यभावको कुछ-कुछ छिपाते हुए और कुछ-कुछ प्रकट करते हुए मनुष्योंके साथ भाई-बहन, पिता-पुत्र, शत्रु-मित्र आदिके सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्योंके समान कर्म करते हैं तो उन्हें अवतार कहा जाता है।

अवतारोंमें मत्स्य, कूर्म आदिका तो केवल ऐतिहासिक रूपमें कथन किया जा सकता है। मनुष्य जिनके जीवनसे शिक्षा प्राप्त कर सकें, ऐसे अवतार केवल तीन हैं राम, कृष्ण और बुद्ध। बुद्धको अपने जीवनकालमें अपने अवतार-भावकी चेतना थी, यह कह सकना कठिन है। उन्होंने देह-परित्यागके अनन्तर अपने भक्तोंको अपने ईश्वर-भावका प्रकाश दिया होगा, यह माननेके लिए भी कोई विशेष प्रमाण नहीं है; क्योंकि इनके भक्त न तो ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं और न अवतारके सिद्धान्तको। अतः अवतार-भावका प्रकाश देनेवाले हमारे सामने केवल दो ही व्यक्ति रह जाते हैं—राम और कृष्ण।

भगवान् मानव-देह धारण करके जिस प्रकार अपने भक्तोंको अपने अवतार-भावका प्रकाश देते हैं, इस विषयकी चर्चा हम इस लेखमें करेंगे। यद्यपि भगवान्के अनन्त रूप होते हैं, जिनके द्वारा वे अपने भक्तोंको अपने स्वरूपका प्रकाश दिया करते हैं; तथापि अवतार जिन रूपोंके द्वारा भक्तोंको अपने ईश्वर-भावका प्रकाश देते हैं, उन्हें हम मोटे रूपसे पाँच प्रकारसे कह सकते हैं। सबसे पहला रूप है प्रतीकात्मक। यह भक्तको इसके जीवनकी विशेष घटनाओंके अवसरोंपर और फिर, भक्तिके बढ़नेपर प्रायः बार-बार इसके कर्त्तव्यका संकेत करनेके लिए होता है। जैसे किसीका पिता, भाई या मित्र कोई सीताराम, दया-कृष्ण, वासुदेव आदि नामका होता है तो स्वप्नमें भगवान् इस रूपमें दर्शन दे देते हैं और इस प्रकारका व्यवहार करते हैं कि जिससे भक्तको अपने जीवन-सम्बन्धी घटनामें होनेवाले परिणामका या कर्त्तव्यका संकेत मिल जाता है।

दूसरा रूप है स्वप्न या ध्यानमें दिखायी देनेवाले श्रीराम या श्रीकृष्णका वह रूप, जिससे कि इन्होंने अपने पार्थिव जीवनमें रहते हुए क्रीडा की थी। तीसरा रूप होता है सूक्ष्म और स्थूलके बीचका ऐसा मध्यवर्ती रूप, जो भक्तको स्थूल आँखोंसे दिखायी दिया करता है। यह रूप होता है, बालरूप लगभग दो-तीन वर्षकी आयुसे लेकर ५, ७ वर्षकी आयु तकका। चौथा स्थूल रूप होता है किशोर-अवस्थाका, लगभग १२ वर्षसे लेकर १५, १६ वर्षकी आयु तकका। पाँचवाँ रूप होता है विराट्, जैसा कि श्रीकृष्णने अर्जुनको दिखलाया था और जिसकी कुछ झलक उन्होंने यशोदाजीको भी दिखलायी थी। यह रूप विश्वव्यापी नारायणके विश्वात्मक रूपका होता है। यह रूप राम और कृष्णके मानवदेह धारण करनेसे पहले नारदजीको भी दिखलाया गया था, अतः यह आवश्यक नहीं है कि इस रूपके दिखायी देनेपर देहधारी अवतारका इसके साथ सम्बन्ध भक्तको ज्ञात हो। यदि अवतारके देहके साथ सम्बन्ध रखते हुए इसका दर्शन होता है तभी यह उसके अवतार-भावका प्रकाशक होता है।

इन पाँचों रूपोंमें-से अवतार-भावका प्रकाश देनेवाले भगवान्के मुख्यतया तीन रूप होते हैं—प्रथम स्वप्न या ध्यानमें दिखायी देनेवाला भगवान्का सूक्ष्म रूप, दूसरा स्थूल रूप और तीसरा इन दोनोंके बीचका मध्यवर्ती रूप। इनके उदाहरण अनेक भक्तोंके जीवनमें दिखायी देते हैं जिनमें मीरा, सूरदास, रामकृष्ण परमहंस, जटाधारी आदिके नामोंका उल्लेख किया जा सकता है।

स्वप्नमें दिखायी देनेवाले भगवान्के रूपका एक उत्तम उदाहरण मीराके जीवनसे मिलता है जबकि बचपनमें श्रीकृष्णने मीराके साथ विवाह किया। यहाँ विवाहसे अभिप्रेत है जीवात्माका परमात्माके साथ प्रेममय सम्बन्ध। अतः बचपनमें अपने लौकिक विवाहसे बहुत पहले मीरा श्रीकृष्णको स्वप्नमें देखकर अपनी मातासे कहती हैं :

मीरा—माई म्हांने सुपनेमें परण गया जगदीस।
सोतीको सुपना आविया जी, सुपना बिस्वा बीस।
माँ—गैली दीखे मीरा बावली, सुपना आल जंजाल।
मीरा—माई म्हांने सुपनेमें परण गया गोपाल।
अंग-अंग हल्दी मैं करी जी, सुधे भीज्यो गात॥
माई म्हांने सुपनेमें परण गया दीनानाथ।
छप्पर जहाँ जान पधारे दुल्हा श्रीभगवान॥
सुपनेमें तोरण बाँधियो जी, सुपनेमें आई जान।
मीराको गिरधर मिलवा जी, पूर्व जनमके भाग।
सुपनेमें म्हांने परण गया जी, हो गया अचल सुहाग॥[1]

---

१. म्हांने = मुझे। परण गया = वधुके रूपमें वरण किया। आविया = दीख पड़ा। गैली = गयी गुजरी, मूर्ख। सुधे = अमृत। कोट = करोड़। जान = जन, बराती, बरात।

इसी प्रकार एक भक्तको यह स्वप्न दीखा कि यमुना-जैसी नदीके घाटपर कोई भागवत बेच रहा है। वहाँ एक दूसरा व्यक्ति आया और उसने भागवतके दो स्कन्ध या अध्याय मोल लिये। उन्हें दिखाते हुए उसने भक्तसे पूछा कि कहो यह भागवत ही है न! भक्तने उत्तर दिया कि हाँ यह भागवत ही है, इसे इस बेचनेवालेको ही दे दो और ये रुपये भी इसे ही दे दो। इसी समय वह व्यक्ति श्याम रंगके लगभग ३२, ३३ वर्षकी आयुके श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हो गया और उसने भक्तकी दाईं पसलीपर हाथ रखते हुए पूछा कहो कैसा स्पर्श हुआ और स्पर्श करते ही उन्होंने उसे छातीसे लगा लिया। भक्तको अद्भुत आनन्द हुआ और ऐसा भान हुआ जैसे कोई हल्के लाल रंगका आनन्द भीतर घुस रहा हो। इसके तुरन्त बाद भक्त जाग गया और प्रगाढ आनन्दमयी स्थितिमें मूच्छित-सा हुआ आधे घण्टे तक बैठा रहा। सिवाय आनन्दके नशेके मनमें कोई विचार नहीं आता था। आधे घण्टेके बाद जब नशा कुछ कम हुआ और बाहरी जगत्की चेतना आयी तो उसे अपनी स्थितिका ज्ञान हुआ।

नोट : यहाँ भागवत बेचने वाले व्यक्ति स्वयं श्रीकृष्ण ही थे जो अपनी भक्तिका भक्तोंके हृदयमें संचार किया करते हैं। भागवतके मोल लेने वाले भी श्रीकृष्ण ही थे जो भक्तोंके हृदयसे प्रेममयी भक्तिको लेकर उनपर अपने ज्ञान एवं आनन्दकी वर्षा किया करते हैं। भागवत के दो अध्यायों या स्कन्धोंसे अभिप्रेत है दशम स्कन्धका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध जिनमें भगवान्की लीला भरी है।

भगवान्के मध्यवर्ती रूपके दर्शनका एक उत्तम उदाहरण जटाधारी बाबाके जीवनमें मिलता है। जटाधारी बाबा रामायत पन्थी साधु थे। वे श्री रामचन्द्र जीकी बालमूर्तिकी नित्य उपासना, पूजा किया करते थे। रामचन्द्र जीकी बालमूर्ति उनके सम्मुख प्रकट होकर उनकी पूजा ग्रहण किया करती थी। उत्तरप्रदेशमें बाल शब्दके लिए 'लाला' शब्दका प्रयोग किया जाता है और पूर्वी भागमें लालाके बजाय 'लला' शब्द अधिक प्रेम और स्नेहका द्योतक माना जाता है। अतः वे उसे बाल रामके बजाय रामलला कहा करते थे। जटाधारी बाबा रामललाकी मूर्तिको साथ लेकर अनेक बार तीर्थयात्रा किया करते थे और उसी तीर्थयात्रामें एक बार दक्षिण भी आये जहाँ उनका श्रीरामकृष्ण परमहंससे परिचय हुआ।

जटाधारी बाबा रामललाकी मूर्तिकी पूजा तो करते, परन्तु उसमेंसे भगवान्के प्रकट होकर उन्हें दर्शन देनेकी बात किसीसे न कहते थे। दूसरोंको केवल इतना ही दिखायी देता कि वे सदा श्री रामचन्द्र जीकी बालमूर्तिकी अत्यन्त भक्ति-भावसे पूजा करते हैं। भगवान् रामका सजीव रूप किसीको भी दिखायी न देता। परन्तु रामकृष्ण परमहंस उच्चकोटिके योगी थे और भक्त भी। अतः उन्होंने जटाधारीकी उपासनाके रहस्यको जान लिया। वे प्रतिदिन जटाधारीके पास जाकर और वहाँ दीर्घकाल तक बैठकर उनकी पूजाविधिको ध्यानपूर्वक देखा करते थे। धीरे-धीरे श्रीरामकृष्णके हृदयमें भी श्री रामचन्द्रजीकी बालमूर्तिके प्रति वात्सल्य-भाव जाग्रत् हो गया और उन्होंने जटाधारीसे राममन्त्रकी यथाशास्त्र दीक्षा ले ली। फिर रामकृष्ण भी बालमूर्तिके ध्यान-चिन्तनमें तन्मय रहने लगे।

श्रीरामकृष्ण परमहंसने जटाधारीकी भक्तिके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—

"जटाधारी बाबा रामललाकी सेवा कितने ही दिनोंसे कर रहे थे। वे जहाँ जाते रामललाको वहीं अपने साथ ले जाया करते थे और जो भिक्षा उन्हें मिलती थी उसका नैवेद्य पहले रामललाको अर्पण करते थे। इतना ही नहीं, उन्हें तो यह प्रत्यक्ष दिखायी देता था कि रामलला मेरा दिया हुआ नैवेद्य खा रहे हैं या कोई पदार्थ माँग रहे हैं या कह रहे हैं कि मुझे घुमाने ले चलो अथवा किसी बातके लिए हठ पकड़े बैठे हैं। रामलला यह सब कार्य करते हुए मुझे भी दिखायी देते थे। इसीलिए तो बाबा जीके समीप रात दिन बैठा हुआ रामललाकी लीला देखा करता था।"

जैसे-जैसे दिन बीतने लगे वैसे-वैसे रामललाका प्रेम मुझपर बढ़ने लगा। जब तक मैं बाबा जीके पास बैठा रहता था तब तक रामलला भी वहाँ अच्छा रहता था, बड़े उत्साहसे खेलता था, आनन्द करता था; परन्तु ज्यों ही मैं वहाँसे उठकर अपने कमरेकी ओर आने लगता त्यों ही रामलला भी मेरे पीछे दौड़ने लग जाता था। मैं बार-बार कहता कि 'मेरे पीछे मत आओ' परन्तु सुनता कौन था? पहले मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह सब मेरे मनका भ्रम है; अन्यथा यह तो ठहरा बाबा जीकी नित्य पूजाका देवता और फिर बाबाजीका इसपर अगाध प्रेम है। यह होते हुए भी यह बाबा जीको छोड़कर मेरे पास आता है—यह कैसी बात है? रामलला कभी मेरे आगे और कभी मेरे पीछे नाचता-नाचता मेरे साथ आता हुआ दीखता था और ठीक उसी प्रकार दीखता था जैसे तुम सब लोग अभी इस समय मुझे दिखायी दे रहे हो। किसी समय वह गोदीमें बैठनेका ही हठ पकड़ लेता था। कभी उसे गोदीमें बिठला लो तो फिर नीचे उतरनेकी जल्दी पड़ जाती थी। कुछ भी कहो गोदीमें ठहरता ही नहीं था। जैसे ही नीचे उतरा कि पहुँचा धूपमें खेलने, चला काँटेकी झाड़ीमें फूल तोड़ने। कभी गंगाजीमें जाकर डुबकी ही लगा रहा है· इस तरह सारे खेल हो रहे हैं। उससे कितना ही कहा जाय— 'बेटा! धूपमें मत रहो, पैरमें फफोले पड़ जायेंगे, पानीमें मत खेलो, सर्दी हो जायगी।' पर यह सब बातें सुनता कौन था? वह तो ऐसा बन गया था कि मानो मैं किसी दूसरेसे कह रहा हूँ। अधिकसे अधिक एक आध बार अपने कमलवत् सुन्दर नेत्रोंसे मेरी ओर एकटक निहारकर जोरसे हँस देता था, पर उसका उपद्रव जारी ही रहता था। तब मुझे क्रोध आ जाता था और मैं कहता था, 'अच्छा ठहर! अभी मैं तुझे पकड़कर ऐसी मार लगाता हूँ कि अच्छी तरह याद रहेगी।' यह कहता हुआ मैं उसे धूपमेंसे या पानीमेंसे खींचकर घर ले आता था और कुछ खेलनेकी वस्तुएँ देकर घरमें ही बिठलाकर रखता था। परन्तु फिर भी उसके उपद्रव जारी ही रहते थे। तब मैं एक दो चपत मार भी देता था। इस प्रकार जब मार पड़ जाती थी तब उसकी आँखें डबडबा जाती थीं और वह अत्यन्त करुण मुद्रासे मेरे मुखकी ओर ताकने लगता था। इसके उस दयनीय चेहरेको देखकर मेरे मनमें बड़ा दुःख होता था। तब मैं उसे गोदीमें लेकर पुचकारता, उसका दिल बहलाता और उसे चुप कराता था।

एक दिन मैं स्नान करने जा रहा था कि उसने भी मेरे साथ चलनेका हठ पकड़ा। मैं उसे भी साथ ले चला। तब फिर नदी पर उसने क्या किया? एक बार जब वह नदीमें कूदा कि फिर बाहर आता ही नहीं था। मैंने न जाने कितनी बार कहा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। वह पानीमें डूबा ही रहा। तब मुझे क्रोध आ गया और मैं नदीमें कूद पड़ा और उसे पानीके भीतर दबाकर बोला, 'अब डूब कैसे डूबता है? मैं कबसे मना कर रहा हूँ तू मानता ही नहीं है, कबसे ऊधम मचा रहा है? फिर क्या था? सचमुच उसके प्राण निकलनेकी नौबत आ गयी और वह झट पानीमें खड़ा हो गया और पैर पटक-पटक कर रोने लगा। उसकी ऐसी दशा देखकर मेरी आँखोंमें आँसू बह चले और अपने मनमें यह कहते हुए कि 'अरे-अरे मैं चांडाल यह क्या कर बैठा?' मैंने उसे छातीसे लगा लिया और उसे नदीसे लेकर घर आ गया।

एक दिन फिर उसके लिए मेरे मनमें बड़ा दुख हुआ और मैं बहुत रोया। एक दिन वह कुछ ऐसी ही हठ पकड़े बैठा था। मैंने उसे समझानेके लिए कुछ चिउड़ा — बिना साफ किया हुआ ही खानेके लिए दे दिया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा तो उसकी कोमल जीभ भूसीसे छिल गयी थी। यह देखकर मुझे बहुत पीड़ा हुई। मैंने उसे फिर गोदमें ले लिया और गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। हाय! हाय! देखो तो, इनके मुँहमें कहीं पीड़ा न हो जाय, इस डरसे माता कौशिल्या सावधानीके साथ इन्हें दूध, मक्खन आदि कोमल पदार्थ खिलाया करती थी, उन्हींके मुँहमें ऐसा कड़ा तुच्छ चिउडा डालते समय मुझ चांडालको जरा भी हिचकिचाहट नहीं हुई।

श्री रामकृष्णने इस घटनाका अपने भक्तोंके सामने इस प्रकार वर्णन किया कि वे वर्णन करते-करते शोक-ग्रस्त हो गये और सबके सामने गला फाड़कर चिल्लाकर रोने लगे। उनके इस दिव्य प्रेमको उनके भक्त समझ भी न सके; परन्तु फिर भी रामकृष्णके रोनेके प्रभावसे उनकी आँखोंमें भी आँसू बहने लगते थे।

रामललाकी अद्‌भुत कथा कहते-कहते श्री रामकृष्ण बोले—'आगे चलकर ऐसा होने लगा कि बाबा जी नैवेद्य तैयार करके कितनी देरसे राह देख रहे हैं और रामललाका कहीं पता ही नहीं है। इससे उन्हें बहुत बुरा लगता और वे इन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहाँ आकर देखते हैं तो रामलला मेरे घरमें आनन्दसे खेल रहा है। तब वे अभिमानके साथ उन्हें उलाहना देते हुए कहते थे—'मैं कबसे नैवेद्य तैयार करके तुझे खिलानेके लिए तेरी राह देख रहा हूँ और तू यहाँ आनन्दसे खेल रहा है। तेरी यही कुटेव पड़ गयी है; जो मनमें आता है वही करता है। दया ममता तो तुझमें है ही नहीं। माँ बापको छोड़कर बन को चला गया। बाप-बेचारा तेरे नामसे आँसू बहाता-बहाता मर गया, पर तू इतने पर भी नहीं लौटा और उसे तूने दर्शन तक नहीं दिये। इसी तरह बाबा जी उन्हें बहुत झिड़कते थे और फिर उनका हाथ पकड़कर उन्हें खींचते हुए ले जाते और भोजन कराते थे। इसी तरह बहुत दिनों तक चला। बाबा जी यहाँ बहुत दिनों तक ठहरे रहे, क्योंकि रामलला मुझे छोड़कर जाते ही नहीं थे और बाबा जीसे भी रामललाको यहीं छोड़कर जाते नहीं बनता था। (रामकृष्ण लीलामृत।)

रामकृष्ण परमहंसके भक्त रामकृष्ण परमहंसको और जटाधारी बाबाको बाल रामके प्रति कुछ नाटक-सा करता देखते, बड़ी गहरी निगाहसे उनकी ओर देखते, किन्तु न तो वे इसका रहस्य ही समझ पाते और न रामललाका वह दिव्य रूप ही उन्हें दिखायी देता था।

इसी प्रकार भगवान्के मध्यवर्ती रूपकी बाललीलाएँ देहलीमें एक लड़कीके साथ—जिसकी कुछ चर्चा मैं अपने पहले लेखोंमें कर चुका हूँ—देखनेका सौभाग्य लेखकको प्राप्त हुआ है। वह एक चौकीपर श्रीकृष्ण, लक्ष्मी और राधाके चित्र रखकर इन्हें नैवेद्य अर्पण किया करती थी। उस चौकीपर उन चित्रोंके सामने तीन हार त्रिभुजाकारमें रखे थे। वह कहा करती थी कि 'मैं इन्हें साक्षात् मानव-देहमें बैठा हुआ देख रही हूँ और मुझे ये हार इनके गलोंमें पड़े हुए दिखाई दे रहे हैं।' आर्यसमाजी संस्कारोंके प्रबल होने और तार्किक, दार्शनिक होनेके कारण मुझे उसके कथनपर विश्वास तो न होता, किन्तु सत्यान्वेषी होनेके कारण मैं उसके कथनपर अविश्वास भी न कर सका। वह पेंड़े या रबड़ी या बर्फी या केले आदि पदार्थ सबके देखते हुए उन चित्रोंके सामने रख देती और कपड़ेसे ढक देती थी और ध्यान या प्रार्थनामें सबको निमग्न कर देती थी फिर थोड़ी देरमें कहती कि 'भगवान् जीने भोग लगा लिया है।' मुझे यह देखकर आश्चर्य होता कि अनेक बार केलोंमेंसे एक तिहाई अंश कम हो जाता और उनपर बालकके काटने-जैसे दो दातोंके स्पष्ट चिह्न रहते थे। रबड़ीसे भरे सकोरे या कटोरीमें इस प्रकारका चिह्न बन जाता मानो किसीने भीतर उँगली डालकर निकाल लिया हो। पेंड़े, लड्डू, बर्फी आदि पर भी इसी प्रकार दाँतोंके चिह्न रहते। कभी-कभी बादामकी गिरियाँ भोगके लिए रखी जातीं और वे भीतरसे खायी जातीं, केवल ऊपरी छिलके रह जाते थे। एक बार बिल्ली दूध पी गयी और भोगके लिए कोई वस्तु न थी। उसके पिताने उस लड़कीके द्वारा भगवान्जीसे पुछवाया कि 'आज क्या किया जाय?' भगवान्जीने उत्तर दिया कि 'अच्छा, आज पानी ही रख दो।' पानी एक गिलासमें रख दिया गया। प्रातःकाल जब उस गिलासको देखा तो उसमें चीनी मिला दूध था और उस चरणामृतका स्वाद दूसरे दिनोंकी अपेक्षा कुछ विशेष प्रकारका था। वह बाल श्रीकृष्णको सदा अपने साथ देखा करती। कभी-कभी उन्हें भूमिपर बैठा देखकर उनके चारों ओर शीशेकी गोलियाँ रखकर बतला देती कि 'इतनी दूरीमें भगवान्जी बैठे हैं।'

वह कहा करती थी कि 'भगवान्जी सदा मेरे साथ रहते हैं और जहाँ मैं जाती हूँ वे भी वहीं जाते हैं। वह उनके साथ बातें भी किया करती थी और प्रश्न पूछनेपर उनका उत्तर भी बाल श्रीकृष्णसे पूछकर दिया करती थी। एक बार मैं उसके मकान पर पहुँचा और उसके पितासे कहा कि 'आज मेरा विचार भोग देखनेका है कोई अच्छी-सी वस्तु बाजारसे मँगवाओ।' उसके पिताने कहा 'अच्छा लो, स्वयं भगवान्जीको ही भेजते हैं।' उनके अपने घरका एक ताँगा था। यह कह कर उन्होंने उस लड़कीसे कहा कि 'जाओ, शुद्ध पेंड़े बाजारसे ले आओ।' मैं और वह लड़की दोनों ताँगेमें बैठकर बाजार गये। एक दूकानसे जहाँ शुद्ध दूधके पेड़े मिलते थे, लाये। हमारे लौटनेपर उसके पिताने उससे पूछा कि 'भगवान्जी कहाँ बैठे थे?' उसने कहा 'बाईं ओर।' मैंने कहा 'मैंने तो नहीं देखा।' यह सुनकर वह मुस्कराने

लगी। फिर उसने उन पेड़ोंको भगवान्‌जीको अर्पण किया और भगवान्‌जीके खानेके दाँतोंके चिह्नवाले पेड़े मुझे प्रसाद रूपमें खानेको दिए जिन्हें खाकर मुझे बहुत हर्ष हुआ।

एक बार मैं और वह लड़की ट्रामवेसे कहीं जानेवाले थे। मैंने विनोदमें पूछा कि कहो 'आज भगवान्‌जी दायें हाथ बैठेंगे या बायें हाथ ?' उसने उत्तर दिया 'भगवान्‌जी कहते हैं कि कंधेपर।' मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस दिन ट्रामवेमें इतनी अधिक भीड़ थी कि हमें खड़े-खड़े ही चलना पड़ा और उसकी बातोंसे यह सत्यता प्रमाणित हो गयी कि उसके आसपास इतना स्थान न होगा जो भगवान्‌जी वहाँ बैठ सकें, वे केवल कंधेपर ही बैठ सकेंगे। इसी प्रकार जब मैं उससे किसी प्रश्नको पूछता तो वह भगवान्‌जीसे पूछकर जो उत्तर देती, उससे पता चलता कि 'वह इसकी बुद्धिका उत्तर नहीं है, अपितु कहीं दूरसे आया है और उसमें कुछ रहस्य भरा है।'

इस प्रकारकी भगवान्‌की अपने मध्यवर्ती रूपकी लीला और भी अनेक भक्तोंके साथ सुनी जाती हैं, परन्तु मैंने केवल तीन भक्तोंके साथ ऐसी लीलाएँ लिखी है, जिनमें मुझे लेश-मात्र भी संदेह नहीं है। भगवान्‌की इस प्रकारकी लीलाओंके द्वारा ही भक्तको उनके अवतार-भावका प्रकाश होता हैं। जिन भक्तोंके साथ इस प्रकारकी लीलाएँ हों, वे बहुत ही भाग्यशाली किन्तु दुर्लभ होते हैं। और भक्त चूंकि इन गुप्त रहस्योंकी चर्चा दूसरोंके सामने प्रायः नहीं करते; अतः दूसरोंको इस प्रकारकी लीलाओंका पता चलना कठिन होता है। परन्तु फिर भी जब अवतारका उद्देश्य अपने रहस्यमय स्वरूपको प्रकाशित करना होता है तो ऐसी लीलाएँ भक्तोंके छिपानेपर भी नहीं छिपतीं और किसी न किसी प्रकार, कभी न कभी जनसाधारणमें प्रकट हो ही जाती हैं।

●

प्रेमका स्वभाव अद्‌भुत है। उसमें जब प्रियतम सम्मुख होते हैं तो उन्हें डाँटते हैं, उनसे रूठते हैं। वे 'मेरे हैं' ऐसा मदीयताका दृढ़भाव रहता है। उस समय उनसे इच्छानुसार काम कराते हैं। संयोग-काल में प्रेम चन्द्रमा बनकर शीतल ज्योत्स्ना देता है। आह्लादका विस्तार करता है। लेकिन वियोगकाल में प्रेम सूर्य हो जाता है। वह प्रियतमके ऐश्वर्यका, स्वरूपका प्रकाश भी करता है और ताप भी देता है। उस समय स्मरण आता है— 'उनमें ये गुण हैं, यह महिमा है।'

●

श्यामा-श्यामकी अभिराम छविने
किसके मनको नहीं मोह लिया ?

कृष्णोपासक पुष्टिमार्गीय मुसलमान कवि

श्री प्रभुदयाल मीतल

★

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित और उनके सुयोग्य पुत्र गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा प्रचारित वल्लभ-सम्प्रदाय किंवा पुष्टिमार्गने भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका ऐसा आकर्षक, उपयोगी और सरस सिद्धान्त रखा था, जिसने आरम्भसे ही बड़ी व्यापक प्रसिद्धि प्राप्त की थी। गोसाईं विट्ठलनाथजीके कालमें मुगल-सम्राट अकबरका शासन था। गोसाईं-जीने अपनी भक्ति-भावना, विद्वत्ता और त्याग-वृत्तिसे सम्राटको प्रभावितकर उनसे सब प्रकार-की राजकीय सुविधाएँ प्राप्त की थीं। फलतः उस कालमें राजा-महाराजाओं एवं धनाढ्योंसे लेकर निर्धन व्यक्तियोंतक और विद्वान् एवं गुणी जनोंसे लेकर सामान्यजनोंतक सभी वर्गके नर-नारियोंने बड़ी संख्यामें पुष्टिमार्गको अंगीकार किया था। उसी समय बहुसंख्यक हिन्दुओंके साथ ही अनेक मुसलमान नर-नारी भी इस सम्प्रदायके अनुयायी होकर कृष्ण-भक्त बन गये थे। उन मुसलमानोंमें कतिपय भक्त-कवि भी थे, जिन्होंने अपनी सरस व्रजभाषा-रचनाओं द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की है। उन पुष्टिमार्गीय मुसल-मान कवियोंमें अलीखान एवं उसकी पुत्री पीरजादी, तानसेन, धोंधी, रसखान और ताज-बीबीके नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। वार्ता-साहित्यके अनुसार वे सब गोसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य-सेवक थे। उनकी भक्ति-भावनाके मनोरंजक वृत्तान्त 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता' तथा 'भावसिन्धुकी वार्ता' आदि कई वार्ता-ग्रन्थोंमें विस्तारसे लिखे मिलते हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने उनकी प्रशंसामें ठीक ही लिखा है—

इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दुन वारियै।

यहाँ पर हम उक्त पुष्टिमार्गीय मुसलमान कवियोंका संक्षिप्त वृत्तान्त प्रस्तुत करते हैं।

अलीखान और उसकी पुत्री पीरजादी—इनका वृत्तान्त 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता' ग्रन्थकी वार्ता संख्या ३७ में दिया हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि अलीखानका पिता व्रजके बच्छगाँवका निवासी हिन्दू गोरखा क्षत्रिय था। वह दिल्लीकी मुसलमानी सेनामें सिपाही था। वहाँ पठानोंके सम्पर्कसे वह मुसलमान हो गया था। अलीखानका जन्म बच्छ-

गाँवमें हुआ था, किन्तु वह अपने पिताके साथ दिल्लीमें रहा करता था। जब अलीखानकी आयु २५ वर्षकी हुई, तब उसके पिताका देहावसान हो गया। बादशाहने अलीखानको शाही सेवामें रख लिया और उसे वन-विभागका हाकिम बनाकर व्रजमें भेज दिया! उसके अधीन 'तबीसाका परगना' था और उसका सदर मुकाम महावन था। वह व्रजके वनोंकी प्राकृतिक शोभाको सुरक्षित रखनेके लिए बड़ा सावधान रहता था। उसने व्रजके गाँवोंमें मुनादी करवा दी थी कि 'कोई भी व्यक्ति वृक्षोंको किसी प्रकारकी हानि न पहुँचावे। यदि कोई ऐसा करेगा, तो उसको कठोर दण्ड दिया जावेगा।'

अलीखानकी एक रूपवती पुत्री थी। उसका नाम पीरजादी था। अलीखानका घर हिन्दुओंकी बस्तीमें होनेके कारण पीरजादी बचपनमें वैष्णव-बालकोंके साथ खेलती थी। उक्त बालकोंके अनुकरणपर वह भी ठाकुर-सेवा करने लगी थी। बड़ी होनेपर उसकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी। अलीखान भी व्रजमें रहता हुआ भक्ति-मार्गका अनुयायी हो गया था। इस प्रकार दोनों पिता-पुत्री कृष्णोपासक परम भक्त हो गये। वार्ता-साहित्यमें अलीखान-की अपेक्षा उसकी पुत्रीको अधिक महत्त्व दिया गया है। उसमें लिखा है, पीरजादीकी अनन्य भक्तिके कारण श्रीनाथजी उसे प्रतिदिन दर्शन देते थे और उसके साथ क्रीड़ा करते थे। उसीके कारण अलीखानको भी ठाकुर जीके दर्शन हुए थे। गोसाइं विट्ठलनाथजीने उन दिनोंकी श्रद्धा-भक्तिके कारण उन्हें गोकुलके ठकुरानी-घाटपर पुष्टि सम्प्रदायकी दीक्षा दी थी। वह गोसाइंजीकी भगवत्-कथाको नियमपूर्वक सुना करता था। अलीखान पखावज बजानेमें बड़ा निपुण था, और पीरजादी नृत्य करनेमें बड़ी थी। वे दोनों पिता-पुत्री गोकुलमे ठाकुरजी-के कीर्तनके अवसरपर वाद्य एवं नृत्यके कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे।

वार्ता-साहित्यमें अलीखानसे सम्बन्धित किसी तिथि-सम्वत्का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु उसके वर्णनसे ज्ञात होता है कि वह गोसाइं विट्ठलनाथजीके स्थायी रूपसे गोकुलमें बस जानेपर उनका सेवक हुआ होगा। इस प्रकार उसका शरण-काल सं० १६२८ के कुछ बाद का जान पड़ता है। उसके रचे हुए ८४ वैष्णवोंकी नामावलीवाले पदसे यह निश्चित रूपसे ज्ञात होता है कि वह गोकुलनाथजीके कालतक अवश्य विद्यमान था, क्योंकि उन्होंने ही वल्लभाचार्यजीके ८४ सेवकोंके नामोंका क्रम निर्धारित किया था। अलीखानका देहावसान व्रजके महावन नामक स्थानमें हुआ था। उसकी छतरी महावन-रमणरेतीके मोरवाले मन्दिरके बगीचेमें बनी हुई है। पीरजादी कवियित्री थी या नहीं, इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिला है, किन्तु अलीखान अवश्य ही भक्त-कवि था। उसके रचे हुए कतिपय पद द्रष्टव्य हैं। इनमें ८४ वैष्णवोंकी नामावली'वाला एक बड़ा पद पुष्टि सम्प्रदायमें अधिक प्रसिद्ध है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—

श्री विट्ठलनाथ वर नित प्रति गाऊँ। जाही विधि श्री वृन्दावन पाऊँ।
श्री बल्लभपथको करो प्रणाम। सुमिरौं श्री गिरिवरधर नाम॥
सुमिरौं श्री गिरिवरधरण वर, नित्य शरण श्री बल्लभ हरी।
श्री विट्ठलेश कृपाल सागर, चरण - रज मस्तक धरी॥

अब गाऊँ हौं निज जननके गुण, सूचिपत्र प्रगट करौं।
निज भक्त चौरासी भए, अब नाम तिनके उच्चरौं।
ये भक्त चौरासी भए, तब स्याम - स्यामा गाइयै।
विनती सुनो 'अलीखान'की, ब्रज-वास कबधौं पाइयै।

तानसेन—मुगल-सम्राट अकबरके दरबारी संगीतज्ञोंमें तानसेनका नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। वे शाही दरबारके गायकों और वादकोंके मुखिया तथा उसके सुविख्यात नव-रत्नोंमें-से एक थे। उनका जन्म सं० १५६३ के लगभग ग्वालियर अथवा उसके निकटवर्ती बेहट ग्राममें हुआ था। वे हिन्दू-कुलमें और संभवतः ब्राह्मण वर्णमें उत्पन्न हुए थे, किन्तु अपने उत्तर जीवनमें मुसलमानोंके अधिक सम्पर्क एवं सहवाससे तथा आहार-विहारकी स्वच्छ-न्दताके कारण उस कालके रूढ़िवादी हिन्दुओंने उन्हें मुसलमान घोषित कर दिया था। उनके पिताका नाम मकरन्द पाण्डेय बतलाया जाता है। उनका मूल नाम सम्भवतः तन्ना अथवा त्रिलोचन था, और तानसेन उनकी उपाधि थी, जो उन्हें बांधवगढ़के राजा रामचन्द्रसे प्राप्त हुई थी। यह उपाधि इतनी प्रचलित हुई कि इसने उनके मूल नामकी अपेक्षा तानसेनके नामसे ही उन्हें प्रसिद्ध किया था। उनकी शिक्षा ग्वालियरमें हुई, और वहीं पर उन्होंने संगीतका भी आरम्भिक ज्ञान प्राप्त किया था। बादमें उन्होंने वृंदावनके महान् संगीताचार्य स्वामी हरिदाससे संगीतकी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। पहले वे बांधवगढ़नरेश राजा रामचन्द्रके दरबारी गायक थे। बादमें उनकी प्रसिद्धि सुनकर मुगल-सम्राट अकबरने उन्हें अपना दरबारी गायक नियुक्त किया था। वे अपने समयके महान् संगीतज्ञ और ध्रुपद-शैलीके विख्यात गायक थे।

'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता' ग्रन्थकी वार्तामें तानसेनका उल्लेख हुआ है। उसमें लिखा गया है, तानसेनने अपने उत्तर जीवनमें गोसाई बिट्ठलनाथजीसे पुष्टिमार्गकी दीक्षा ली, और अष्टछापके विख्यात संगीताचार्य गोविन्द स्वामीसे कीर्तन-पद्धतिका गायन सीखा था। इस प्रकार वार्ता-साहित्यके अनुसार तानसेन पुष्टिमार्गीय[1] थे। उनका देहावसान संवत् १६४६में अकबरकी राजधानी आगरामें हुआ था। उस समय उनकी आयु ८० वर्षसे अधिक थी। उनका अंतिम संस्कार सम्भवतः उनके जन्म-स्थान ग्वालियरमें हुआ था, क्योंकि वहींपर उनकी समाधि अथवा मकबराका निर्माण किया गया है। इसी स्थलपर एक विशाल संगीत-समारोह उनकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष किया जाता है। तानसेनके नामसे बहुसंख्यक ध्रुपद उप-लब्ध हैं। इनसे ज्ञात होता है कि वे महान् गायक होनेके साथ ही साथ सुन्दर कवि भी थे। उनके ध्रुपदोंमेंसे दो यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

प्रथम उठि भोर ही राधे कृष्ण कहो मन, जासौं होवे सब सिद्ध काज।
इहलोक परलोक के स्वामी, ध्यान धरौ श्री ब्रजराज॥
पतित उद्धारन, जन प्रतिपालन, दीनदयाल नाम लेत जाय दुःख भाज।
'तानसेन' प्रभु कौ सुमिरौ प्रात ही, जग में रहे तेरी लाज॥

१. परन्तु स्वामी हरिदास जीके शिष्यके रूपमें उनकी अधिक प्रसिद्धि है, इस आधार पर बहुत लोग उन्हें 'निम्बार्की' मानते हैं।

रुम-झुम भरि आये री नयना तिहारे।
बिथरी सी अलकें स्याम घन सी लागत, झपकि-झपकि उघरत मेरे ज्ञान तारे॥
अरुन वरन नैना तेरे तामें लाल डारे, ता पर अम्बुज बारि-बारि डारे।
कहै 'मियां तानसेन' सुनो साह अकबर, उपमा कहाँ लौ दीजै, बिन अंजन कजरारे॥

घोंधी : उसका संक्षिप्त वृत्तान्त 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता' ग्रन्थकी वार्ता संख्या २४३ में दिया हुआ है। उक्त वार्ताके 'भाव-प्रकाश' में उसे दिल्ली-आगराके बीचके किसी गाँवमें रहने वाला मुसलमान बतलाया गया है। जब वह दस वर्षका बालक था, तभीसे वह एक गायकके साथ रहने लगा था। उस गायकने घोंधीको गायन-वादनकी शिक्षा दी थी। घोंधीका गला बड़ा सुरीला था, अतः वह शीघ्र ही एक प्रसिद्ध गायक और साथ ही मृदंग-वादक हो गया था। जब वह तीस वर्षका हुआ, तब आगरामें आकर रहने लगा था। वहाँ पर वह गायन-वादन द्वारा अपना निर्वाह करता था। वार्तामें लिखा है, एक बार वह अपनी जातिवालोंसे मिलनेके लिए महावन गया था। वहाँसे वह गोकुल आया और उसने ठकुरानी-घाट पर गोसाईं विट्ठलनाथ जीके दर्शन किये। उसी समय वह उनका भक्त बन गया। गोसाईं जीने उसे 'नाम मंत्र' द्वारा अपने सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिया और उसके गायन-वादनपर प्रसन्न होकर उसे श्री नवनीत-प्रिय जीका कीर्तनकार नियुक्त किया।

मुगल-कालीन संगीतके 'नायको'में घोंधीका नाम भी मिलता है। इससे ज्ञात होता है, वह अपने कालका प्रसिद्ध ध्रुपदगायक और वादक था। उसके अनेक पद वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तनकी पोथियोंमें संकलित मिलते हैं। इनकी रचना-माधुरीसे ज्ञात होता है कि वह कुशल गायक होनेके साथ ही साथ रससिद्ध कवि भी था। उसके पद वल्लभ-सम्प्रदायके मन्दिरों और कलावन्तोंकी संगीत-मंडलियोंमें समान रूपसे गाये जाते हैं।

मिश्रबन्धुओंके मतानुसार घोंधीका रचना-काल सं० १७०० के लगभग है, किन्तु गो० विट्ठलनाथजीका समकालीन होनेसे उसका काल कुछ पहलेका जान पड़ता है। 'भाव-प्रकाश' के अनुसार उसका रचना-काल सं० १६२८ के कुछ बादका है। डा० हरिहरनाथ टण्डनने घोंधीके कालका अनुसन्धानकर उसका जन्म संवत् १५९८ और मृत्यु-संवत् १६४२ के बादका बतलाया है[1]।

घोंधीके अनेक पदोंमें-से यहाँ पर दो पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

कहाँ ते आये जू चितचोर।
चलत चलत पग परत हैं पाछै, मनो बँधे रस-डोर॥
मुख की बात करत हौ मोसों, पर जियनी कछु और।
भूल पीतांबर ओढ़ा नीलाम्बर, अचरज उपज्यो जोर॥
दरस दिखावन कह गये मोसों, ललित गावत आये भोर।
'घोंधी' के प्रभु तुम बहुनायक, नागर नन्द किसोर॥

१. वार्ता साहित्य, पृष्ठ २९।

आवन कहि गए अजहुँ न आए, सब निसि बीती मोहि गिन गिन तारे।
दीपक ज्योति मलीन भई है, किन दुतियन विरमाए प्यारे॥
तमचर बोले, बगर सब खोले, फूले कमल, मधुप गुंजारे।
'धोंधी के प्रभु तुम बहुनायक, आए निपट सकारे॥

ये पद शीतकालमें प्रातः 'मंगला' के अवसरपर पुष्टि-सम्प्रदायी मन्दिरोंमें गाये जाते हैं।

रसखान—हिन्दीके मुसलमान कवियोंमें रसखानकी रचनाएँ अपनी काव्य-माधुरीके लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उसका जन्म भारतमें आकर बसे हुए एक विदेशी मुसलमान-घरानेमें हुआ था। जातिसे वह पठान था, अतः उसकी संस्कृति और भाषा भारतीयोंसे भिन्न थी, किंतु उसने व्रजकी सांस्कृतिक भावनाको अत्यन्त प्रवाहमयी व्रजभाषाद्वारा ऐसी सहजताके साथ व्यक्त किया है कि जिसे देखकर आश्चर्य होता है। उसके जीवन-वृत्तान्तकी सामग्री अपर्याप्त और विवादग्रस्त है, अतः उसकी प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। फिर भी उसकी तथाकथित रचना 'प्रेम-वाटिका' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के आधारपर उसकी जीवनीकी जो संक्षिप्त रूपरेखा बनती है, उसे हिन्दीके अधिकांश विद्वानोंने स्वीकार कर लिया है। उसके अनुसार रसखान दिल्लीका निवासी था और उसका सम्बन्ध वहाँके शाही पठान-वंशसे था। वह जन्मसे ही भावुक प्रकृतिका एक प्रेमी जीव था। उसके हृदयमें प्रेमकी धारा अजस्र रूपसे प्रवाहित थी। आरम्भमें उसका प्रेम लौकिक वासनाजन्य था। ऐसा कहा जाता है, वह किसी रूपवान् वणिक्-पुत्रपर अथवा किसी रूपवती प्रेयसीपर इतना आसक्त था कि लोकापवादके होते हुए भी वह उसके पीछे बावला-सा फिरा करता था। उसकी ऐसी तन्मयता और मोहान्धताको देखकर कतिपय वैष्णवभक्तोंने आपसमें कहा कि इसका जैसा उत्कट प्रेम एक लौकिक प्राणीके प्रति है, यदि वह ऐसा ही भगवान्के प्रति होता तो इसका कल्याण हो जाता। उनकी यह चर्चा रसखानने सुन ली और उसने उक्त वैष्णवोंसे पूछा कि क्या वह भगवान् इतना आकर्षक और मोहक है? उन्होंने कहा—'इससे भी कहीं अधिक'। उसी समय उन्होंने श्रीनाथजीका चित्र उसे दिखलाया। उस चित्रकी रूप-माधुरीपर रसखान हृदयसे मुग्ध हो गया। उसने पूछा—'इनके कहाँ दर्शन होंगे?' वैष्णवोंने कहा—'व्रजके गोवर्धन नामक स्थलमें।' यह घटना उस समयकी बतलायी जाती है, जब शेरशाह सूरिके उत्तराधिकारी पठान राजवंशमें भारी गृह-कलह हो रहा था। उधर हुमायूँके साथी मुगल-सरदारोंसे उनका भीषण संघर्ष हो रहा था। उस अराजकताकी स्थितिमें पठानसरदार अपनी जान बचाकर दिल्लीसे भाग रहे थे। रसखानको भी अपनी जीवन-रक्षाके लिए दिल्ली छोड़कर किसी सुरक्षित स्थानपर जाना आवश्यक था। फलतः वह दिल्लीके शाहीवंशकी शानको छोड़कर प्रेमधाम गोवर्धनमें निवास करनेको चल पड़ा। अपनी चढ़ी हुई जवानीमें ही वह लौकिक वासनासे मुख मोड़कर अलौकिक प्रेमस्वरूप श्रीराधाकृष्णका अनन्य भक्त बन गया था। उसकी जीवनीकी इस रूपरेखाका समर्थन 'प्रेम-वाटिका' के इन दोहोंसे होता है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा वंस की ठसक छोड़ि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्री बनहिं आइ गोवरधन धाम।
लह्यो सरन चितचाहिके, जुगलस्वरूप ललाम॥
तोरि माननी ते हियौ, मोरि मोहनी मान।
प्रेम देव की छबिहि लखि, भये मियाँ रसखान॥

व्रजमें आकर वह गुप्त रूपसे हिन्दूके वेशमें रहने लगा। किसीको भी यह ज्ञात नहीं हो सका कि वह शाही वंशका एक मुसलमान पठान है। उसने व्रजकी भाषा और संस्कृतिको आत्मसातकर एक व्रजवासी भक्त-कविके रूपमें अपना जीवन-यापन किया। उसके उत्तर जीवनमें जब मुगल सम्राट अकबरके शासन द्वारा सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था कायम हुई, तथा हिन्दू-मुसलमानोंमें सद्भाव हो गया, तब 'प्रेम-वाटिका' के माध्यमसे लोगोंको उसका कुछ परिचय प्राप्त हुआ था। 'दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता' ग्रंथकी संख्या २४५ की वार्ता रसखानसे सम्बन्धित है। उसमें लिखा है, रसखान श्रीनाथ जीका परम भक्त था, और गो० विट्ठलनाथजीने उसे पुष्टि-सम्प्रदायकी दीक्षा दी थी। यद्यपि रसखानकी रचनाओंमें उक्त कथनसे सम्बन्धित कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है, तथापि उसकी अनन्य भक्ति-भावना, श्रीराधाकृष्णके प्रति उसकी अगाध श्रद्धा और व्रज-संस्कृतिके प्रति उसकी अनुपम निष्ठा निर्विवाद है। उसके जीवन-कालके विवेचनसे विद्वानोंने जो निष्कर्ष निकाला है, वह डा० भवानीशंकर याज्ञिकके मतानुसार इस प्रकार है—

'रसखानका जन्म सं० १५९० के लगभग हुआ। सं० १६१२ के लगभग वह दिल्ली छोड़कर व्रजमें आ गया। सं० १६२७ के बाद वह गो० विट्ठलनाथजीका कृपापात्र हुआ। सं० १६७१ में उसने 'प्रेम-वाटिका' की रचना की। उसके कुछ वर्ष पश्चात् सं० १६७५ के आस-पास उसकी मृत्यु हुई। उस समय उसकी आयु ८५ वर्षके लगभग थी[1]।' उसकी कब्र अथवा समाधि गोकुलके निकटवर्ती रमणरेतीके एक स्थलपर बनी हुई बतलायी जाती है।

रसखानका काव्य व्रजभाषा-साहित्यका श्रृंगार है। उसने कवित्त, सवैया और दोहा छंदोंमें काव्य-रचना की है। उसके सवैया छंद तो व्रजभाषा काव्य-प्रेमियोंके कंठहार बने हुए हैं। उसकी समस्त रचनाएँ प्रेमामृतसे भरपूर हैं। उसके कवित्त-सवैया छंदोंमें प्रेमके भावपक्षका मधुर संगीत है, तो उसकी 'प्रेम-वाटिका' के दोहोंमें प्रेमके दार्शनिक रूपका गम्भीर कथन है। यहाँपर उसके कतिपय छंद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन वेद रिचा सुने चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितू वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देखे दुर्‌यो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन॥

१. रसखान रत्नावली, पृष्ठ १८-१९।

खंजन नैन फँदे पिंजरा छवि नाहि रहे थिर कैसेहु माई।
छूटि गई कुलकानि सखी रसखान लखी मुसकानि सुहाई॥
चित्र कढ़े से रहे मेरे नैन न वैन कढ़े मुख दीनी दुहाई।
कैसी करौं कित जाउँ अली सब वोल उठै यह वावरी आई॥

अब ही खरिक गई गाय के दुहायबे को,
वावरी ह्वै आई डारि दोहनी हू पान की।
कोऊ कहै छरी छरी, कोऊ कहै मरी मरी,
भौन परी डरी गति हरी अखियान की॥
सास व्रत ठाने नन्द बोलत सयाने धाइ,
दौरि दौरि माने जाने खोरि देवतान की।
सखी सब हँसे मुरझानि पहिचानि,
कहूँ देखी मुसकानि वा अहीर रसखान को॥

दंपति-सुख अरु विषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान।
इनतै परै वखानियै, शुद्ध प्रेम रसखान॥
प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होइ द्वै यों लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥
इकअंगी, बिन कारनहिं, इकरस, सदा समान।
गये प्रियहिं सरवस्व जो, सोई प्रेम प्रधान॥

ताजबीबी—व्रजकी भक्त कवयित्रियोंमें ताजवीबीका नाम प्रसिद्ध है, किन्तु उसका ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता है। पुष्टि-सम्प्रदायके वार्ता-साहित्यमें 'भावसिन्धु' और 'श्रीगोबर्धननाथ जीके प्राकटयकी वार्ता' नामक दो ग्रन्थोंमें ताजवीबीका उल्लेख हुआ है। इनमेंसे प्रथममें विस्तृत और द्वितीयमें संक्षिप्त कथन मिलता है। उनसे ज्ञात होता है कि ताजबीवी सम्राट् अकवरकी एक बेगम थी। वह गोसाईं विट्ठलनाथ जीकी सेविका और श्रीनाथ जीकी परम भक्त थी। अकबरकी वेगम होनेसे उसका व्यक्तित्व ऐतिहासिक है, किन्तु इतिहासमें उसका कहीं भी नामोल्लेख नहीं है। इस प्रकार उक्त वार्ता-ग्रन्थोंके आधारपर ही उसका वृत्तान्त जाना जा सकता है। 'भावसिन्धु'की अंतिम वार्ता 'ताजबीवीकी वार्ता' है। उसमें लिखा गया है, सम्राट् अकबरने अपने चित्रकारसे गोसाईं विट्ठलनाथ जीका एक चित्र बनवाया था। वह चित्र ताजके महलमें टँगा हुआ था। उस चित्रको देखकर ताजबीवीकी श्रद्धा गोसाईंजीके प्रति उत्पन्न हो गयी थी। सम्राट् अकवरके दरबारी राजा बीरवलकी पुत्री शोभावती तया राय वृन्दावनदासकी बेटी दोनों ही गोसाईं विट्ठलनाथ जीकी सेविकाएँ थीं। वे ताजवीवीकी सहेलियाँ भी थीं, अतः उनके कारण ताजकी भगवान् श्री कृष्णके प्रति आस्था और गोसाईंजीके प्रति श्रद्धा दृढ़ हो गयी थी। उसके पश्चात् ताजबीबी की प्रार्थनापर सम्राट् अकबरने उसे श्रीविट्ठलनाथ जीसे मंत्र-दीक्षा दिलवायी थी। फिर तो

ताजबीबीकी भक्ति-भावना दिन पर दिन बढ़ने लगी। ठाकुर ललितत्रिभंगीराय जीके स्वरूपको उसने अपने महलमें पधराया था और वह उनकी सेवा-पूजामें लीन रहने लगी। शोभावती और वृन्दावनदासकी बेटी ताजकी परिचर्यामें सदा रहा करती थीं, जिनके सत्संगमें उसे बड़ा सुख मिलता था। एक बार ताजके मनमें श्री गोवर्धननाथ जीके दर्शन करनेकी बड़ी इच्छा हुई; अतः सम्राट् अकबर उसे लेकर आगरासे गोवर्धन गये। वहाँ पहुँच कर गोपाल पुर जतीपुराके स्वकुंडपर उन्होंने डेरा डाला। ताजने श्रीनाथ जीके दर्शन किये। दर्शन करते ही वह उनके प्रेममें इतनी विह्वल हो गयी कि कुछ ही क्षणोंमें उसका देहान्त हो गया और वह अपने लौकिक शरीरको छोड़कर श्रीनाथ जीकी नित्य लीलामें प्रवेश कर गयी।

'भावसिन्धु' में लिखा है, ताजने आगरामें गोपालपुरा मुहल्ला बसाया था, जिसमें भगवदीय रहते थे। उक्त मुहल्ला अब भी आगरामें है, जहाँ गुजराती नागर ब्राह्मणोंकी पुरानी बस्ती है। मथुरामें गोसाईं बिट्ठलनाथ जी 'सतघरा' नामक घरमें सं० १६२३ से सं० १६२८ तक रहे थे। उसके पश्चात् वे स्थायी रूपसे गोकुलमें रहने लगे थे। उनके निवास-स्थानके कारण मथुरामें जिस मुहल्लेका नाम 'सतघरा' पड़ा है, उसीके पासका मुहल्ला 'ताजपुरा' कहलाता है। सम्भव है, उक्त मुहल्लेका यह नाम ताजके नामपर पड़ा हो।

'भावसिन्धु' और 'श्री गोवर्धननाथजीके प्राकट्यकी वार्ता' दोनों ग्रन्थोंमें ताजका अकबरकी बेगम और उसके देहावसानका स्थान श्रीगिरिराजकी तलहटी गोवर्धन लिखा गया है। इसके अतिरिक्त उसके जीवन-वृत्तान्तसे सम्बन्धित अन्य बातें उनमें नहीं लिखी गयी हैं। 'श्री गोवर्धननाथ जीके प्राकट्यकी वार्ता में ताजको अलीखानकी बेटी लिखा गया है, किन्तु यह प्रामाणिक नहीं है। ये दोनों भक्त महिलाएँ पृथक्-पृथक् हैं। ऐसा कहा जाता है ताजकी उपास्य प्रतिमा इस समय गोकुलमें गो० गिरिधरलाल जीके मन्दिरमें विद्यमान है। हिन्दी साहित्यके अनेक विद्वानोंने ताजकी जीवनी लिखनेकी चेष्टा की है, किन्तु उसके प्रामाणिक वृत्तान्तकी समस्या अभीतक उलझी हुई है।

वल्लभ-सम्प्रदायमें ताज के रचे हुए कई पद और छंदादि उपलब्ध हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वह भक्त महिला होनेके साथ ही साथ सुन्दर कवयित्री भी थी। उसकी माधुर्य भक्ति मीराबाईके सदृश कही जा सकती है। उसकी रचनाओंमें एक 'धमार' बहुत प्रसिद्ध है, जो होलीके दिनोंमें वल्लभ-सम्प्रदायी मन्दिरोंमें गायी जाती है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—

धमार राग नट

बहुरि ढफ बाजन लागे हेली।
खेलत मोहन-साँवरो हो, किहि-मिस देखन जाउँ।
सास-नँनद वैरिन भई हो, अब कीजै कौन उपाउ॥
भरी जु गागरि ढारिए हो, जमुना-जल के काज।
इहि-मिस बाहर निकसिके हो, हम जाँइ मिलन तजि लाज॥

आयो बछरा मेलिए नहिं, बन को देउ विडारि।
वे दै हैं हम ही पठै हो, तहाँ रहौं धरी द्वै - चारि॥
हा, हा री, हौं जाति हो हो, मो पै नाहिन परत रह्यो।
तू तो सोचत हो रही हो, मैं मानति नाहि कह्यो॥
राग-रंग गहगड मच्यौ हो, नन्दराय दरबार।
गाइ खेलि हँसे लीजिये हो, फाग बड़ौ त्यौहार॥
तिन में मोहन अति बने हो, नाचत संग ले ग्वाल।
बाजे वहु बिधि बाजही हो, रंज मुरज, ढफ ताल॥
मुरली, मकुट विराजहीं हो, कटि पट-बाँधें पीत।
निरतति आवत 'ताज' के प्रभु, गावत होरी गीत॥

ताजकी अन्य रचनाओंमें निम्नलिखित छन्द भी बहुत प्रसिद्ध है—

'सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तव दस्त हो बिकानी, बदनामो हू सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठानी, मैं निवाज हू भुलानी,
तजे कलमा-कुरान, सारे गुनन गहूँगी मैं॥
साँवला सलोना सिर 'ताज' सिर कुल्हे दिये,
तेरे नेह-दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान ताणी सूरत पै,
त्वांण नाल प्यारे, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥
छैल जो छबीला, सब रंग में रंगीला,
बड़ा चित्त का अड़ीला, कहुँ देवतोसे न्यारा है।
माल गले सोहै, नाक-मोती सेत जोहै,
कान कुंडल मन मोहै, लाल मुकुट सिर धारा है॥
दुष्ट जन मारे, सब सन्त जो उबारे 'ताज',
चित-हित वारे प्रेम प्रीति करनवारा है।
नन्दजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावनवारा, कृष्ण साहब हमारा है॥

●

ताजके कई छन्द 'मुसलमानोंकी हिन्दी सेवा' नामक ग्रन्थमें हैं।

बारम्बार प्रणाम है ★ श्रीबाबूलाल गौड़ 'गौडबन्धु'

श्रीवृन्दावन और सकल व्रज जिसका लीलाधाम है।
उस प्रभुके चरणारविन्दमें बारम्बार प्रणाम है॥
मुरलीधर, नटवर, वंशीधर, गिरिधर जो कहलाते हैं।
श्याम मनोहर मुरली मनोहर व्रजमें खेल खिलाते हैं॥
वृजमोहन, मधुसूदन, मोहन लीला नई दिखाते हैं।
श्याम सुंदर घनश्याम मनोहर महारास रचवाते हैं॥
कैसा ही हो अधम तारते जपता जो हरिनाम है।
उस प्रभुके चरणारविन्दमें बारम्बार प्रणाम है॥ १॥
कृष्णचन्द, आनन्दकंद, माधवमुकुन्दकी जय होवे।
गोपवृंद गोपिका-बृंद व्रजराजचंदकी जय होवे॥
नँदनंदन, यशुदानंदन, मथुरानंदनकी जय होवे।
व्रजनंदन, गोकुलनंदन वसुदेवनंदनकी जय होवे॥
जिसका लीलाक्षेत्र सदासे श्री वृन्दावन-धाम है।
उस प्रभुके चरणारविन्दमें बारम्बार प्रणाम है॥ २॥

काशीके महान् विद्वान्का तिरोधान

यह लिखते हुए हृदय भर आता है कि काशीपुरीके एक परम माननीय विद्वान्, तत्त्वज्ञ एवं सहृदयशिरोमणि महाकवि **श्री पण्डित काशीनाथ द्विवेदी 'सुधीसुधानिधि'** २४ दिसम्बरको सदाशिव-ब्रह्ममें लीन हो गये। ब्रह्मलीन पण्डित श्री नकछेदरामजी, (जिनका दूसरा नाम श्री उमापति द्विवेदी था), जिन्होंने 'सनातन धर्मोद्धार' नामक महाग्रन्थका निर्माण करके विद्वत्समाजका मस्तक ऊँचा किया था, श्री सुधीसुधानिधि जीके ताऊ थे। पण्डित परम्परामें उत्पन्न श्रीसुधीसुधानिधि जी कोई परीक्षा न देनेपर भी प्रायः सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र थे। उन्होंने जीवनके अन्तिम वर्षोंमें संस्कृतभाषामें 'रुक्मिणीहरण' नामक एक महाकाव्यका प्रणयन किया, जो साहित्यिक गुणोंको गरिमामें अपना सानी नहीं रखता है। कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष सबकी संमिलित प्रतिभाका कहीं एक स्थानपर दर्शन करना हो तो वह है रुक्मिणीहरण नामक महाकाव्य। वे इस काव्यको लिखकर सदाके लिए अमर हो गये हैं। संस्कृतके ही नहीं, वे हिंदी व्रजभाषाके भी महाकवि थे। उनके द्वारा लिखे गये कई सौ दोहे उपलब्ध हैं, जो महाकवि विहारीकी सतसईसे भी अधिक प्रभावशाली हैं। विद्वान् होनेके साथ ही वे बड़े त्यागी थे। आर्थिक दृष्टिसे उन्हें बहुत कष्ट सहन करना पड़ा, किन्तु न तो कभी उन्होंने कहीं नौकरी स्वीकार की और न किसीका प्रतिग्रह ही लिया। मेरे ऊपर उनका बड़ा वात्सल्य था। आज मैं उनके श्रीचरणोंमें आर्द्रहृदयसे अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।—संपादक

अपनेमें भगवान्‌को देखना ही उनका साक्षात्कार है

भगवत्-साक्षात्कार क्या है ?

श्री उदित मिश्र

★

किस महात्माको भगवान्‌का दर्शन हुआ ? इसका पता कौन लगाये ? किसमें इतनी शक्ति है ? जिसने दर्शन किया, ऐसे महात्माओंका दर्शन भी कौन कर सकता है ? सारे जगत्‌में व्याप्त प्रभु ही दर्शन दे सकता है। हम तो थोड़ा बहुत अपने विचारोंके बलपर भगवान्‌का नाम ले लेते हैं और उनके गुणोंका वर्णन पुस्तकोंके द्वारा कर लेते हैं।

चिन्तन, साधन, जप—यह सब श्रद्धा और विश्वास पर चलता है। श्रद्धा भी उसी पुरुषकी काम देती है, जिसका अन्तःकरण पवित्र होता है। श्रद्धा और विश्वास, इसकी जड़ संस्कारोंका संचय है। संस्कार एक जन्ममें नहीं बनता। कई जन्मोंमें बनता है। इसका हिसाब-किताब कौन कर सकता है ? हाँ एक बात देखनेमें अवश्य आती है कि, मनुष्यका जन्म तभी दिव्य होता है, जब वह शुद्ध आचरण, निर्मल मनके साथ संसारमें रहता है।

जिस आदमीका मन भगवच्चर्चामें लगता है, जिसमें आस्तिकताका प्राबल्य होता है, जिसपर दुर्भावनाओं और दुःसंगतिका कुछ प्रभाव नहीं होता है, उस पुरुषको सुसंस्कृत ही तो कहा जायगा।

भूमि परत भा ढावर पानी, जिमि जीवहिं माया लपटानी।

मायाका रूप क्या है ? यह भी मनुष्यके जीवन हीसे पता लगता है। भगवान्‌ने कहा है कि, 'हम सर्वदा प्रकाशित हैं। हमारे प्रकाशको हमारा भक्त ही देख सकता है। जिसका ज्ञान मायासे मोहित हो जाता है, वह हमको नहीं देख सकता।'

हम आप रोज ही देखते हैं कि, एक पुरुष प्रत्यक्ष काम, क्रोध, लोभके वशीभूत रहता है। दूसरा विकारोंसे छूटनेका उद्योग करता है।

विकारोंका प्रभाव सब प्राणियोंपर है। लेकिन कमी-बेशी अवश्य होती है। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि, स्वार्थ मनुष्यको अंधा कर देता है। स्वार्थ, विवेकपर काबू पा जाता है। इसीलिए स्वार्थी मनुष्य विवेक-हीन हो जाता है। विवेकहीनता मनुष्यका नाश करती है।

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

कंस, रावण, हिरणकश्यप साधारण लोग नहीं थे। इन लोगोंने विवेकका सहारा छोड़ दिया। आजकल हिंसाका नग्न नाच देखनेमें आ रहा है। कहीं स्नेह, विश्वास, सहयोगका दर्शन नहीं होता है। विचार-वैषम्य बहुत तेजीसे बढ़ रहा है। इसीलिए कलह, अशान्ति, गंदगी देखनेमें आती है। महात्मा पुरुषोंके प्रसाद, आशीर्वाद, तपसे दुर्गुणोंकी शुद्धि होती है। भगवान् कृष्णने दुराचारीको भी साधु बनानेका मन्त्र बतलाया है। यदि मनुष्य आचरण-भ्रष्ट हो और भगवान्‌का भक्त बन जाय, जो सरल नहीं है, तो भगवान् उसको भी अवसर देते हैं कि, वह अपने कुसंस्कारोंपर विजय प्राप्त कर ले।

ले-देकर एक ही बात समझमें आती है। वह है प्रभुका सम्पर्क। उपासनाका अर्थ प्रभुके पास बैठना है। प्रभुके पास बैठनेका अर्थ यह है कि, ईश्वरकी उपस्थिति सदा अपने पास देखना। यह बात निरन्तर अभ्याससे प्राप्त होती है। जब हम प्रभुको अपने पास सोते, जागते, उठते, बैठते, खाते, पीते सर्वदा देखेंगे तो हमारे हर काममें शुद्धता रहेगी। भगवान्ने कहा है कि, "हे अर्जुन मेरेमें मन लगाओ! मेरी भक्ति करो? मेरी पूजा अर्चना करो। मेरे लिए कर्म करो! मैं तुमको प्राप्त होऊँगा।"

यह तो अर्जुनसे भगवान्ने कहा। अर्जुन पात्र थे। जो अर्जुनने कहा, उसको उन्होंने सुना और उनकी शंकाओंका निवारण किया। अब तो—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा, अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

इसमें भगवान्ने अपने अव्यय पदतक पहुँचनेकी तरकीब बतायी है। जिसमें मान, मोह न हो, जो आसक्ति-दोषसे मुक्त हो, आध्यात्मज्ञानकी चर्चा सदा करता हो, निष्काम-भावसे सुख-दुःखसे अलग रहे, वही मनुष्य भगवान्के अव्यय पदको प्राप्त करता है अर्थात् भगवान्को अविनाशी नित्य समझता है।

ज्ञानचक्षु रखनेवाला, मनको विषयोंमें न फँसानेवाला पण्डित, अपनेमें भगवान्को देखता है। जो अज्ञानी, अचेतस् और अकृतात्मा है, वह यत्न करते हुए भी भगवान्की सर्वत्र उपस्थितिका अनुभव नहीं कर सकता।

भगवान्के साक्षात्कारके बारेमें कहना और लिखना, चित्तको अच्छा भोजन देना है और शेष बात तो सब भगवान्की दया है। इस आँखसे भगवान्का दर्शन होना अत्यन्त दुष्कर है। अपनेको जितना ही अधिक हम जानेंगे, उतना ही अधिक हम भगवान्के पास पहुँचनेका शुभ अवसर प्राप्त करेंगे।

सांसारिक झमेलोंको झेलनेकी शक्ति भगवान् ही देते हैं। आत्म-परीक्षणका बल भगवान् ही देते हैं। कहाँतक कहा जाय, भगवान् ही सब कुछ हैं। जो कुछ करते हैं वे ही करते हैं। उन्हींकी कृपासे हम अपनेको मनुष्य समझते हैं। उनके नामके अधिकारी भी हम उन्हींकी कृपासे होते हैं। सबसे अच्छा यही होगा कि हम भगवान्को ही सर्वस्व समझें और उनकी बातको अपने जीवनमें उतारें।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे कौन्तेय! जो कुछ करते हो, होम, हवन, दान, तप, भोजन सब मुझे अर्पण कर दो।' ऐसा करोगे, तब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और कर्मके फलको छोड़ दोगे जो सबसे बड़ा बन्धन है।

मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः।

भगवान्में चित्त लगाकर सब काम करना भगवान्का साक्षात्कार करना है।

●

हिन्दू-नारी

है कितना गौरवशाली पद भारतमें हिन्दू नारीका ?

सुखमें दुखमें रणमें बनमें—छाया पतिकी बन जाती है,
अपनी कोमल अंगुलिको—रथ चक्केकी कील बनाती है;
काली-सी मतवाली बनकर अरिदलका रक्त बहाती है,
अन्यायी आततायियोंकी दल देती पलमें छाती है;
स्वागत करती वाणों-प्राणोंसे बरछी और कटारीका ॥१॥

जिसके उज्ज्वल तपके आगे झुक जाया करता इन्द्रासन,
लख जिसका अनुपम शौर्य—डगमगाने लगते हैं सिंहासन;
पृथ्वीपर गिरते राजमुकुट—लख करके जिसका वीरासन,
है मिट जाता वसुधापरसे अन्यायी क्रूर कुटिल शासन;
थक जाता दस सहस्र गजबल, पर अन्त न मिलता सारीका ॥२॥

पाताललोक भूलोक तथा वह स्वर्गलोक जल जाता है,
क्रोधानलसे जिसके क्षणमें रवि शशिमण्डल झुलसाता है;
तारक विद्युत् बादलका क्या—कहना जब नभ थर्राता है,
सागर-गिरि सरिता मरु समीर—का चिह्न न रहने पाता है;
जिसके चरणोंपर झुका शीश—यमपुरके भी अधिकारीका ॥३॥

रणमें जाकर डट गयी कभी अरि-दलको मार भगानेको,
चण्डीका प्रबल प्रचंड तेज दुनियाको याद दिलानेको;
या झटपट उद्यत हुई स्वयं ही अनल जाल धधकानेको;
लपटोंमें जा छिप गई कभी जो अपना धर्म बचानेको;
इसके ही कारण मान बढ़ा जौहर व्रतकी चिनगारीका ॥४॥

—श्रीविलक्षण

विद्यापतिकी दृष्टिमें श्री राधातत्त्व परब्रह्मस्वरूप—

विद्यापतिकी राधा

श्री वैदेहीशरण शास्त्री

हिन्दी साहित्यके प्राचीन भावुक कवियोंमें विद्यापतिकी सर्वत्र ख्याति है। यद्यपि विद्यापतिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं तथापि उनकी काव्यगरिमा एवं भक्तिपरक विचारोंसे साहित्यिक वर्ग विशेष रूपसे प्रभावित रहा है। प्रो० गियर्सनका कहना है कि विद्यापतिने अपनी रचनाओंमें दार्शनिक विवेचन ही विशेष रूपसे प्रस्तुत किया है। "राधा और श्री कृष्ण आत्मा और परमात्माके प्रतीक हैं। एक दूसरेकी सम्मिलन आकांक्षा परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावाभिव्यक्तिमात्र है।" एफ० ई० कीथने भी इसी बातका समर्थन 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिट्रेचर' नामक रचनामें की है। राधाके सन्दर्भमें इन्होंने अपने विचारोंको व्यक्त करते हुए कहा है—"In these he uses the story of live which Radha bore to Krishna as an alegory to describe the relation of the soul to God" हिन्दी साहित्यके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंमें विद्यापतिकी राधा एक पहेलीके रूपमें रही। किसीने राधा और कृष्णके सम्बन्ध आख्यानोंको भोग, राग, रंगानुवृत स्वीकार करते हुए उन्हें शृंगारी कवियोंमें गणना की तो किसीने मिथिलामें मनाये जानेवाले अनेक उत्सवों (पर्वों) पर उनके गीतोंका उल्लेख करते हुए उन्हें भक्त कवियोंकी गणनामें स्थान प्रदान किया। पं० हरप्रसाद शास्त्रीने विद्यापतिको पूर्णतः दरबारी कवि स्वीकार किया है। इसी प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा आदिने भी शृंगारिक भावनाओंसे प्रेरित राजा शिव सिंहके सन्निकटवर्ती होनेके कारण इन्हें भी शृंगारी कवियोंमें ही स्वीकार किया है। इस प्रकार विद्यापतिकी पदावलीमें वर्णित 'राधा' परक विचारका अन्तर्भाव शृंगार-वर्णनमें समाप्त हो जाता है।

वस्तुतः विद्यापति द्वारा रचित पदोंका तटस्थ अध्ययन किया जाय तो विद्यापतिके हार्दिक रूपसे निष्पन्न विचारोंसे भली भाँति परिचय मिल जाता है। इस सन्दर्भमें सर रामकृष्ण भण्डारकरकी 'The vaishnavism shavism and other minor relligious system'में कहा गया है कि बंगालके प्रसिद्ध सन्त चैतन्य महाप्रभु विद्यापतिके पदोंको गाते-गाते आत्मविभोर हो जाते थे। कहा जाता है जगन्नाथपुरीमें 'जगजग' कहते हुए ये बेसुध हो गये थे। इसी सन्दर्भमें विद्यापतिकी मृत्युसे सम्बन्धित आख्यानोंके आधार पर कहा जा सकता है कि विद्यापति न मात्र एक शृंगारी कवि थे अपितु शृंगारिक भावनाओं-

के माध्यमसे इन्होंने संसारकी परमाह्लादमयी अनन्त शक्तिस्वरूपा 'राधा'के वर्णनमें अपना सर्वस्व समर्पण किया है।

काव्यप्रकाशकार मम्मटने चार प्रकारके उपदेशों (मनुष्यपर प्रभाव डालनेवाले तत्त्वों) का उल्लेख किया है—जिसमें सबसे प्रभावकारी उपदेश कान्तासम्मित उपदेश बताया है—'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।' संस्कृत-साहित्य विशारदोंका ऐसा मत रहा है कि साहित्यके सम्पूर्ण तत्त्व कान्तासम्मित उपदेशोंके आधारपर ही उपदिष्ट (वर्णित) हैं। इस दृष्टिकोणको ध्यानमें रखकर विचार किया जाय तो विद्यापतिके काव्योंमें हमें कान्तासम्मितोपदेशके माध्यमसे राधा और श्री कृष्णके परम तत्त्व सत्-चिद्-आनन्दकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यका जीवन अनेक कठिनाइयोंमें व्यतीत होता है। अपने जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुविशेष एवं सम्मान्नादि उपयुक्त वातावरणसे प्रलोभित होकर मनुष्य अपने मनके विपरीत भी कुछ कार्य करनेपर बाध्य हो जाता है। संस्कृत तथा हिन्दी साहित्यके कवियोंमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि इन लोगोंने अपनी आकांक्षाके विपरीत भी राजाज्ञा एवं राजाओंके वशीभूत होकर अनेक काव्यों, नाटकों, कथाओंकी संरचना की। विद्यापतिके विषयमें भी ऐसी ही जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। शिवसिंहके दरबारी कवि इनको माना जाता है। पर विचार किया जाय तो शिवसिंह इनके मित्रोंमें-से थे। शिवसिंहकी मृत्युके पश्चात् ही इनकी भी कुछ दिनोंके उपरान्त मृत्यु हो जाती है और मृत्युस्थलीपर ही शिवजीका मन्दिर भी है।

जबतक मनुष्य सम्पूर्ण रूपसे अपना जीवन समर्पित कर परमात्माकी उपासना नहीं करता या उनके आख्यान-सम्बन्धी काव्योंका निबन्धन नहीं करता तबतक उनके काव्योंकी छटा पूर्णरूपसे प्रस्फुटित नहीं होती। गोस्वामीजीने इसे—

भगति हेतु विधि भवन विहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

लिखा है। विद्यापतिकी राधा परब्रह्मस्वरूपिणी हैं। परमात्माकी लीलामें सहयोगिनी हैं। इनके काव्योंके विशद अध्ययनसे इस बातकी पुष्टि हो जाती है।

●

एकबार एकने गोपीसे कहा—'श्रीकृष्ण तो तुम्हें सदाके लिए छोड़कर मथुरा चले गये हैं। वे अब व्रज नहीं लौटेंगे।' गोपी बोली—'मुझे इसमें बहुत प्रसन्नता है। उन्हें यहाँ नहीं आना चाहिए। मथुरामें वे दुर्गमें हैं, सेनासे सुरक्षित हैं और बड़े-बूढ़े विद्वान्, नीतिज्ञ वहाँ उचित सम्मति देनेवाले हैं। यहाँ तो यह सब कुछ भी नहीं है। जरासन्ध अथवा कोई अन्य आक्रमणकारी आजाय तो यहाँ उनको कष्ट ही तो होगा।'

'तुम नीके रहौ, उनहीके रहौ।'

●

श्रद्धा

श्री पुरुषोत्तमप्रसाद मिश्र

★

श्रद्धा जीवनका मुख्य आधार है। मनुष्य किसी न किसी श्रद्धाके सम्बन्धसे ही जीवित रहता है भले ही वह श्रद्धा आध्यात्मिक न होकर भौतिक ही क्यों न हो। परिवार के प्रति श्रद्धा ही व्यक्तिके सुखी पारिवारिक जीवनका आधार है। पत्नीके प्रति पतिके मनमें या पतिके प्रति पत्नीके मनमें अगर श्रद्धा न हो, तो एक दूसरेके प्रति निर्मल प्रेम न हो। प्रेम जीवनका सबसे बड़ा आधार है, पर प्रेमका आधार है श्रद्धा। श्रद्धा न हो तो प्रेम भी न हो। श्रद्धा और प्रेम परस्पर एक दूसरेके पूरक हैं। श्रद्धाके समाप्त होते ही प्रेम भी समाप्त हो जाता है। जिस दिन स्वयं के जीवनके प्रति श्रद्धा अथवा प्रेम समाप्त हो जाता है, उसी दिन मनुष्य अपना जीवन भी समस्त कर देता है। जीवित रहनेके लिए प्रेमपूर्ण श्रद्धा और श्रद्धापूर्ण प्रेम एकदम अनिवार्य हैं।

आज 'मानवके प्रति प्रेम' का नारा सुनायी देता है। पर इसकी अनिवार्य शर्त है मानव और मानवताके प्रति श्रद्धा। पर व्यवहारमें ऐसा दिखायी देता है कि 'समस्त मानवताके प्रति प्रेम' की आवश्यकता प्रतिपादित करनेवाले लोग भी मनुष्यके मनमें व्याप्त छोटी-छोटी श्रद्धाओंको छिन्न-भिन्न कर देनेका प्रयत्न करते हैं। ऐसी दशामें 'मानव और मानवताके प्रति प्रेम' का नारा केवल एक ढकोसलामात्र रह जाता है। जिसके मनमें अपने परिवार, अपने समाज, अपने राष्ट्रके प्रति प्रेम होगा वही समस्त मानवताके साथ भी प्रेम कर सकता है। प्रेम सहज गुणके साथ-साथ एक संस्कार भी है, जो केवल श्रद्धासे स्फूर्त होता है। परिवार-जीवन, समाज-जीवन और राष्ट्र-जीवनके प्रति श्रद्धाके भाव जागृत रखकर ही मानवताके मूल्यके प्रति श्रद्धा जागृत की जा सकती है।

भारतीय मनुष्योंने इस सत्यको पहचाना है। और इसीलिए भारतीय जीवनके हर अंगको श्रद्धासे ओतप्रोत रखनेका सतत प्रयत्न किया गया है। श्रद्धासे ही चरम लक्ष्यकी सिद्धि होना स्वीकार किया गया है। इस श्रद्धाके भावका भारतीय जीवनमें कदम-कदमपर परिचय मिलता है। 'विश्वासं फलदायकं', 'यथा शक्ति तथा भक्ति', 'मन चंगा तो कठौतीमें गंगा' 'जैसी करनी वैसी भरनी' आदिमें उसी श्रद्धाकी झांकी मिलती है। कठिनसे

कठिन विपत्तिमें भी 'रनवन व्याधि विपत्तिमें वृथा डरो जनि कोय; जो रक्षक जननी जठर सो हरि गयो न सोय' में भी वही श्रद्धा मनुष्योंको विचलित न होनेका सन्देश देती हैं। 'हरीच्छा बलीयसी' में भी वही श्रद्धा निहित है, जिसके द्वारा मनुष्य 'अपने बुरे'में भी 'भले' की कल्पनाकर जीवनको फिर नये उत्साहके साथ आगे बढ़ानेको प्रेरित होता है। घोरतम कष्टमें भी उसे श्रद्धाका सम्बल विचलित नहीं होने देता और आगे उस श्रद्धाको और तीव्र बनाकर कार्य करनेका संकेत देता है—

"दुःखमें सुमिरन सब करै सुखमें करै न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करे तो दुःख काहेको होय॥"

में वही संकेत छिपा है। अगर सार्वभौम सरकारी सत्ता भी किसीके विरुद्ध कमर कस ले तो भी 'जग रहे रूठा, एकता रहे अरूठा, सब चाटेंगे अंगूठा, प्रभु तू न रूठा चाहिए' की उक्तिमें उस व्यक्तिको पूर्ण आत्मविश्वास प्राप्त हो सकता है और वह अपने ऊपर होनेवाले अन्यायका दृढ़तापूर्वक प्रतिकार कर सकता है। अगर ये श्रद्धा और विश्वासदायक उक्तियाँ न हों तो मनुष्य घबराकर शायद उसी क्षण आत्महत्या कर ले। 'अगर चार बाँहवाला रक्षक है तो दो बाँहवाला क्या कर सकता है' की उक्तिका स्मरण होते ही किसी भी शक्तिसे टक्कर लेनेकी मनःस्थिति पैदा हो सकती है।

'जाको राखैं साइयाँ मारि सके ना कोय।
बाल न बाँका करि सके जो जग वैरी होय॥'

मानवकी आत्मशक्तिमें श्रद्धाका एक अनूठा उदाहरण है।

'पातञ्जलि योगदर्शन'में भी श्रद्धाका सर्वोच्च स्थान है। 'भवप्रत्यय प्रकृतिलयानाम्'के अतिरिक्त अन्य व्यक्तिके लिए ज्ञानप्राप्ति किंवा समाधिसिद्धिके लिए 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' कहकर श्रद्धाको सर्वोच्च स्थान दिया गया है। स्वयं योगेश्वर कृष्णने भी गीतामें जो सन्देश दिया है, उसमें स्थान-स्थानपर श्रद्धाकी सर्वोच्च महत्ता ही वर्णित है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'में श्रद्धाका महत्त्व निस्सन्दिग्ध शब्दोंमें स्वीकार किया गया है। 'ये ये मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः; श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः'में भी वही ध्वनि है। इतना ही नहीं :—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

× × ×

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

× × ×

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयाऽयं प्ररुष्यो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

आदि अनेकानेक श्लोकोंमें भी उसी श्रद्धाका महत्त्व वर्णित है। श्रद्धाविहीन प्राणी स्वाभाविकतया ही 'संशयात्मा' बन सकता है और 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति, नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः'में उसकी गति स्पष्ट रूपसे बना दी गयी है। इसीलिए भारतीय जीवन, अर्थात् हिन्दू जीवनमें श्रद्धा बिलकुल रम गयी है। इतनी रम गयी है कि वह पत्थरमें भी देवकी कल्पनाकर स्वयं देवत्व प्राप्त कर लेता है। उसका यह विश्वास अडिग है कि 'मानो तो देव, नहीं तो पत्थर।' अर्थात् अगर श्रद्धाके साथ पत्थरमें भी देवत्वकी प्रतिष्ठा मानी जाय तो उस पत्थरसे भी दैवी कृपा प्राप्त हो सकती है और होती है। अगर पत्थरमें श्रद्धा रखनेसे इतना चमत्कार हो सकता है तो स्वयं आद्यशक्तिमें श्रद्धा रखनेपर क्या नहीं हो सकता? पुनः सारांश यही निकलता है कि श्रद्धा ही जीवनका आधार है, उससे रहित होकर मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जाता। इसके विपरीत उसका सम्बल पकड़कर मनुष्य स्वयं 'देवता' बन सकता है और 'ईश्वरत्व'को प्राप्त हो सकता है!

●

श्याम निकट बुलाते हैं

मायाके अगारमें अँगार चुगते हो तुम
द्वार वे तुम्हारे सुधाधार ढरकाते हैं।
तुम उनके हो वे तुम्हारे इसी नाते सदा
भूल अपराध राधावर अपनाते हैं।
लेनेको समोद गोद उत्सुक अनाथ नाथ
हाथ किन्तु उनके उठे ही रह जाते हैं।
हाय रे अभागे जीव! भागे फिरते हो तुम
दूर हटे जाते श्याम निकट बुलाते हैं।

'राम'

वसन्त और सरस्वतीके सम्बन्धमें एक शोधपूर्ण दृष्टि

आचार्य श्री पं० गोपालचन्द्र मिश्र
वेदविभागाध्यक्ष वा सं० वि० वि०

★

वसन्त-पञ्चमीके दिन सरस्वती-पूजन शिक्षित और शिक्षार्थी सभी करते हैं। बंगालमें तो जन-साधारण सरस्वती-पूजामें भाग लेता है। बहुतसे लोग इसे सरस्वतीका जन्म-दिवस कहते हैं। यह विषय विचारणीय होनेपर भी इस दिन सरस्वती-पूजा करनेमें दो मत नहीं हैं।

'वसन्त' शब्द का सरस्वती अर्थ कोषों[1] में उपलब्ध नहीं है। जिससे कि राम-नवमी भानु-सप्तमी, शिव-रात्रि, गणेश-चतुर्थी की तरह वसन्त-पञ्चमी नामसे ही सरस्वतीका सम्बन्ध इस तिथिमें जाना जा सके। तथापि 'न ह्यमूला प्रसिद्धः' इस न्यायसे तथा इस दिन सरस्वती-पूजनका विधान[2] है, इसलिए वसन्त-पञ्चमी और सरस्वतीका सम्बन्ध जानना आवश्यक है।

सरस्वती नदी गुप्त रूपसे ही पृथ्वी तलको अलंकृत करती है। विद्वान्‌की सरस्वती भी उसके अभ्यन्तरमें ही विशेष प्रकाश देती है। प्रायः जनसाधारण भी उद्‌भट विद्वान्‌को देखकर विना सन्निधिलाभ किये उसकी स्वायत्त सरस्वतीको नहीं समझ पाता है, वैसे ही वसन्त शब्दमें सरस्वतीका अर्थ भी छिपा हुआ अन्तर्विकसित माना गया है।

सरस्वती विद्या देवता है। विद्या[3] है, ब्रह्म[4] है। ऋतुओंमें वसन्त[5], मनुष्योंमें ब्राह्मण[6], देवताओंमें अग्नि[7], ब्रह्म शब्दसे ही कहे जाते हैं, यह बात ब्राह्मण ग्रन्थोंमें स्पष्ट है। ब्रह्म सब

---

१. विश्वपंचाङ्ग।

२. तिथितत्त्व पृ० ३४।

३. ततः (प्रजापतिः) ब्रह्मैव प्रथममसृजत, त्रय्येव विद्या (ब्रह्म)। तदाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्व प्रथमजमिति श० ब्रा० ६।१।१।१०

४. वागिति तद्‌ब्रह्म जै० उ० २।९।६

५. ब्रह्म हि वसन्तः श० ब्रा० २।१।३।५

६. ब्रह्म वै ब्राह्मणः तै० ३।९।१४।२ श० ब्रा० १३।१।५।३

७. अग्निरेव ब्रह्म श० ब्रा० १०।४।१।५
अयमग्निर्ब्रह्म शु० य० सं० १७।१४

जगह् वसता है। इसलिए जनसाधारणकी व्यवहार-भाषाके अनुसार इस सरस्वतीको वसन्त शब्दसे संकेत किया गया है। संस्कृत शब्द सत्का भाषामें सन्त जिस तरह अपनाया गया है उसी भाँति वसन्त ब्रह्म (सरस्वती) भी वसन्त कहला गया। फलतः परोक्ष रूपसे वसन्त शब्दका अर्थ सरस्वती हो जाता है।

वेदोंको ब्रह्म कहनेका प्रचार-व्यवहार तो पूर्णतया उपलब्ध है।[1] वसन्त यह सरस्वती या शब्दब्रह्मका एक अप्रत्यक्ष संकेत है। यही कारण है कि ब्रह्म अर्थात् वेदके उत्तरदायी वर्गको ब्राह्मण कहा जाता है। इस ब्राह्मणका उपनयन[2], अग्न्याधान[3] वसन्त ऋतुमें ही बतलाया गया है। क्योंकि ऋतुओंमें वसन्त ब्रह्म है। किसी ब्रह्मका किसी ब्रह्मके साथ समन्वय हो ऐसे देश काल व्यपस्थाकी एक निजी शोभा है, और औचित्य है। इसी शोभा और औचित्यके भावसे वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सम्पत् शब्दका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म वेद ज्ञान ब्राह्मण आदि सब वसन्त शब्दके भागी हैं।

वेद या ज्ञानकी अधिष्ठात्री 'जाड्यान्धकारापहा' भगवती सरस्वती देवता प्रसिद्ध है। इसी कारण सरस्वती-पञ्चमीके अर्थमें वसन्त-पञ्चमीका व्यवहार आचार्योंने किया है।

इतने घुमावके साथ सरस्वतीके लिए वसन्त शब्दका प्रयोग यह भी संकेत करता है कि विद्या या ज्ञान सरस्वतीका अनुग्रह इतना सरल नहीं है कि बिना समय, शक्ति, बुद्धि लगाये सहज ही प्राप्त हो सके।

विद्याधिदेवता सरस्वतीका अनुग्रह बिना तपश्चर्याके, बिना गुरुशुश्रूषाके होना निर्गन्ध पुष्पप्राप्तिके समान[4] है। इसलिए वसन्त-पञ्चमी यह शब्द अपने अर्थके रहस्यकी तरह शिक्षार्थी व्यक्तिका भी संकेत करता है कि केवल अक्षर-ज्ञान या पुस्तकोंका संग्रह या लिखी छपी पुस्तकोंके बाँचनेसे तात्त्विक अर्थ नहीं मिलता; अपितु इसके लिए गुरुके माध्यम एवं सदाचारयुक्त तपस्या परम आवश्यक है। जिससे शब्दका रहस्य स्पष्ट हो सके।

पञ्चमी तिथियोंमें 'पूर्ण' कही जाती है। इससे यह भाव भी स्पष्ट है कि बिना सरस्वती अर्थात् नासमझीके दूरीके जीवका कोई भी कार्य पूरा नहीं हो सकता। इसलिए इस पूर्णा पञ्चमी तिथिमें सरस्वतीका पूजन करके प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता-प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो, इस अभिप्रायसे भारतीय संस्कृतिमें वसन्त-पञ्चमीमें सरस्वती-पूजन किया जाता है।

●

---

१. 'ब्रह्मैव सर्वम्' गो० पू० ५।१५

२. वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत।

३. तस्माद् ब्राह्मणो वसन्त आदधीत ब्रह्म हि वसन्तः श० ब्रा० २।१।३।५

४. शुश्रूषारहिता विद्या अपि मेधागुणैर्युता।
वन्ध्येव युवती तस्य न विद्या फलिनी भवेत्॥—याज्ञवल्क्य शिक्षा

मनके आघातपर एक उत्तम प्रतिक्रियाका निरूपण

विश्वास

(कहानी)

श्रीकृष्ण गोपाल माथुर

★

(१)

प्रतिपालक, प्रभुवर, पाहि माम् । अव्यक्त, अगोचर, अज, अकाम ॥
भवनिधि तरिहौं केहि भाँति नाथ । जब लौं महेस गहिहौ न हाथ ॥
करुणा-वरुणालय, पुण्यधाम ।..............

उत्कल-प्रदेशकी पावन-पवित्र भूमिमें श्रीजगन्नाथपुरीके सागर तट पर बैठे एक वृद्ध सन्त तम्बूरा बजाते हुए उपर्युक्त भजनको दरबारी कान्हड़ा रागमें बड़े आनन्दके साथ गा रहे थे । सागरकी उत्ताल तरंगोंका घोर नाद मानो उनके कानमें वाद्ययंत्रका काम दे रहा था ।

कलकत्ता–निवासी सेठ धनजी, मनजी सन्तकी ओर आते-आते एक पुस्तकोंकी दूकान पर रुक गये । पुस्तकें देखते हुए धनजीने मनजीसे कहा—'पुस्तकें मेरा जीवनप्राण है । लोकमान्य तिलकने कहा है—'मैं नरकमें भी उत्तम पुस्तकोंका स्वागत करूँगा, ये वहाँ भी स्वर्ग बना देंगी ।' वाशिंगटनने कहा है—'जब दुःखमें सगे-सम्बन्धी मित्र साथ छोड़ देते हैं, तब ग्रन्थ ही सच्चा साथ देते हैं ।'

अन्तमें मनजीके विशेप आग्रह करनेसे दोनों सन्तके समीप पहुँच गये । इन्हें देखते ही सन्त गाना-बजाना छोड़, हाथ जोड़, मस्तक नवा भावावेशमें कहने लगे—'आइये मुरलीधर, गिरिधर आइये, व्रजभूषण, दूषणहर आइये । आज मेरे अहोभाग्य हैं कि आप सन्मुख आ गये । मेरे हृदयाधिनाथ श्रीकृष्णचन्द्र, बड़ी दया की आपने इस दीन-हीन दास पर । घनश्याम, श्यामसुन्दर, आपकी अद्भुत छटा, दिव्य सौन्दर्य इन चर्मचक्षुओंसे निहार कर इस दासके जन्म-जन्मान्तरके संचित पाप दोष नष्ट हो गये—मन, बुद्धि, काय, वचन सभी शुद्ध हो गये । धन्य प्रभु, धन्य !'

धनजी, मनजी स्तंभित होकर सुनते रहे । जब संत सचेत हुए, तब दोनोंने करबद्ध हो प्रार्थना की—'संत प्रवर ! आज आपके दुर्लभ दर्शन पाकर हमें बड़ा ही आनन्द मिला । आपको जो चाहिए, वह सेवा हमें बताइये, ताकि उसे कर हम कृतार्थ हों ?'

मधुर मुस्कानसे सन्त बोले—'मुझे जो चाहिए, वह तो प्रभुवर ही दे सकते हैं श्रीएकनाथ महाराजने कहा है—

नरदेहा चे नि ज्ञाने, सच्चिदानन्द पदवी घेंग ।
ये वढा अधिकार नारायणे, कृपावलोकने दीघला ॥

अर्थात् मनुष्यके ऊपर कृपा करके नारायणने उसको यह अधिकार दे दिया है कि ज्ञानके द्वारा वह इसी नरदेहसे सच्चिदानन्द-पदको प्राप्त करे ।'

सन्तके द्वारा इसे कई उपदेश श्रवण करनेके पश्चात् धनजीने विशेष अनुनय-विनय करके एक बहुमूल्य शाल सन्तके चरणोंमें भेंट कर दिया। संतने उसे छुआ नहीं। अलग रखवा दिया।

× × ×

वापस कलकत्ता लौटते समय धनजीने सन्त-महिमा बखान रेलमें करते हुए मनजीसे कहा कि संसारमें अधिकांश मानवोंको सत्पथ पर लानेके लिए सन्त-समुदायने अलौकिक कार्य कर अपनेको संकटमें डालनेमें थोड़ा भी संकोच नहीं किया है। कहा है कि—

'तरवर कदे न फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथके कारणे, साधाँ धरयौ सरीर॥'

अर्थात् वृक्ष कभी फल नहीं खाते, नदी नीरका संचय नहीं करती। इसी प्रकार परमार्थके वास्ते सन्त शरीर धारण करते हैं।'

इन सत्य वचनोंको सुनकर मनजीने इसका विरोध करते हुए कहा—'मैं तो इसमें थोड़ा भी विश्वास नहीं करता। साधुओंके द्वारा अनेक अनाचार-अत्याचार होते हुए सुने, देखे और पढ़े गये हैं।'

धनजीने शान्ति पूर्वक मनजीको समझाते हुए कहा—'जुआरके ढेरमें यदि एक काला दाना निकल आवे, तो उसके कारण सारे ढेरको फेंका नहीं जा सकता, बल्कि उस काले दानेको ही निकाल कर दूर फेंक दिया जाता है। इसी प्रकार आजकलके सन्तोंके विषयमें समझना चाहिए। हाँ, मैं इतना जरूर कहूँगा कि आजके युगमें भगवाँ वेश धारण कर साधु बन जानेकी स्वतंत्रता सबको है। यह न होकर एक प्रामाणिक साधु-संस्थाके द्वारा परीक्षा लेनेके बाद, जिसे प्रमाण-पत्र दिया जाय, वही साधुवेश धारण कर साधु कहला सकता है।'

इस प्रकार धनजीने बार-बार कई उदाहरण देते हुए मनजीके मनको सन्तोष दिलानेका भरसक प्रयत्न किया; किन्तु मनजीने जो एक धारणा बना ली थी, उसमें थोड़ा भी अन्तर नहीं आने पाया। बल्कि इस विवादके कारण दोनों मित्रोंमें कुछ मनमुटाव भी हो गया।

कलकत्ता स्टेशन पर दोनों मित्र श्रीकालिकाजीको मन ही मन प्रणाम करते हुए गाड़ीसे उतरे, और प्रेमसहित मिलकर अपने-अपने स्थानोंको गये।

(२)

व्यापार-धंधेमें ज्ञात ही नहीं हो सका कि इस साधारण-सी घटनाको कितने दिन बीत गये हैं। एक दिन मनजीका इकलौता पुत्र दामोदर खाँसी-बुखारसे पीड़ित हो गया। उपचार कराया गया डाक्टरी और आयुर्वेदिक भी। किन्तु यह रोग बढ़ता ही गया। झाड़ा-फूंकी, मंत्र-जंत्र, जादू-टोना भी पुराने विश्वासके अनुसार चले। परन्तु, हुआ यही कि—'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।'

इसी अवसर पर एक दिन धनजी कुशल-क्षेम जाननेके निमित्त मनजीके यहाँ आये, और मित्र-पुत्र दामोदरकी रुग्ण-दशा देखकर बहुत दुखी हुए। सब प्रकारकी चिकित्सासे हताश हो जाने का पूरा विवरण सुनकर उन्होंने कहा—'अब तो हरिभजनसे ही लाभ होगा। १७ अक्तूबर सन् १९४७ में दिल्लीकी प्रार्थना-सभामें महात्मा गांधीजीने कहा था कि—'मुझे

खाँसी आती है। डाक्टर कहते हैं कि पेनिसिलीन लेनेसे ३ दिनमें ठीक हो सकती है; परन्तु मैं समझता हूँ कि रामनाम रामबाण दवा है। यह कभी निष्फल नहीं जाती। हाँ, धीरज तो चाहिए।'

यह बात सुनकर भक्ति, भक्त, भगवन्त, संत-महन्तों पर अविश्वास करनेकी एक वेदनासे मनजीका मन सिहर उठा। आज रातको स्वप्नमें भी किसीने उनसे कहा था कि—'उस दिन संतका मनही-मन अपमान करनेसे तुम–विपत्ति-ग्रस्त हो गये हो। जाओ, उसी संतकी पद-धूलि लेनेको।'

मनजीके मानो उन्मीलित नेत्र खुल गये। धनजीसे उन संत प्रवरका पता पूछा। पर 'रमता जोगी और वहता पानी' इनका क्या पता रहता है ? फिर भी मनजी—

प्रविसि नगर कीजै सब काजा, हृदय राखि कोसलपुर राजा।

इस चौपाईका स्मरण करते हुए श्री जगन्नाथपुरीकी यात्राको–संतकी पद-धूलि लेनेके लिए निकल पड़े।

अब उनके पास सम्बल केवल हरि-आश्रय ही था। किन्तु पुरीमें ज्ञात हुआ कि वे संत तो हरिद्वार चले गये हैं। लौटती गाड़ोसे मनजीने हरिद्वार पहुँच हरिकी पैड़ीपर गंगा स्नान किया, और उन संतको खोजनेमें सारी शक्ति लगा दी, कठिनाईसे पता लग पाया कि वे वृन्दावनकी यात्राको पधार गये हैं। मनजी फिर लौटती गाड़ीसे वृन्दावन गये और वहाँ गली-गलीमें संतके दर्शनोंकी लालसासे भटकते रहे, किन्तु संतका पता-ठिकाना नहीं मिल सका।

थककर, हताश हो रहे थे, किन्तु संत-मिलनकी अपूर्व लालसाको चित्त-मनमें संजोये हुए वे प्रसन्न थे।

अचानक श्री बाँकेविहारी जीके दर्शनकर आते हुए भक्तोंमें चर्चा उन्होंने सुनी—'पुरीके महात्मा लाडिली जीकी निकुंजमें विराज रहे हैं।'

इतना सुनते ही मन-मानस मनजीका चैतन्य हो उठा—मानो बुझते हुए दीपकमें किसीने स्नेहसे स्नेह भर दिया हो। चल पड़े वे उधर ही।

सचमुच अब उन्हें वे ही सन्त मिल गये। जाते ही उन्होंने संतकी चरणरज ग्रहण करनेको हाथ बढ़ाया, तभी संत आगे सरक गये, बोले—'क्या अनर्थ करते हो ? चरण-रज, आनंदकंद, वृजचन्द, नंदनन्दन श्री कृष्णचन्द्रके परमपावन, दुःख-नसावन पादारविन्दोंकी लेनेसे त्रितापका नाश होकर परमपद प्राप्त होता है। भक्ति करो उनकी।'

संत-दर्शन और फिर उनके मुखारविन्दसे भक्तिका उपदेश सुनकर मनजीको मानो आपार निधि मिल जाने-जैसा हर्ष हुआ। हाथ जोड़ बोले—'पूज्य महात्मन् ! अपराध क्षमा हो ! क्षमा हो !! क्षमा हो !!!'

संत साश्चर्य—'कैसा अपराध ?'

'महाराज, मैं मनसे आपका अपराध करनेका दोषी हूँ'—मनजीने कहा—'उसीको क्षमा करनेको विनीत प्रार्थना कर रहा हूँ।'

संतने अपना वरद हस्त उठाकर मनजीके मस्तकपर रख दिया। उसी समय मनजीने संत-चरण-रज लेकर मस्तकपर चढ़ाकर रख ली। अब मनजीने वहीं नगरमें ठहरकर प्रतिदिन संतके दर्शन करनेको जाना आरंभ किया। ५वें दिन जब वे गये, तो संत वहाँ नहीं थे—केवल धूनी ठंढी हो रही थी।

संत-विरहसे, नास्तिकसे अब आस्तिक, मनजी व्याकुल हो गये। फिर खोज। 'हारेको हरिनाम'' का आश्रय लेकर वे नगरसे बाहर निकले ही थे कि उनको उत्तम शकुन हुए। सोचा—अबकी बार संत-दर्शन सम्भवतः अविलम्ब हो जायँगे।

भुवनेश्वरमें संत मिल गये, किन्तु पहचाने नहीं गये। मनजीने तो उन संतको पुरीके वे ही संत जानकर उनका अनुगमन कर दिया। वहीं ठहर मनजी संतकी सभी भाँति सेवा करने लगे। प्रतिदिन मन लगाकर—अभिमान छोड़ निश्छल भावसे निरन्तर सेवा करते रहनेसे संत स्वभावतः एक दिवस अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—'वत्स, यह ले धूलधूसरित प्रभु बालकृष्णकी पद-धूलि, तेरा कल्याण हो जायगा।'

मनजीने बड़े ही भक्तिभावसे नतमस्तक हो पद-धूलिको लेनेके निमित्त हथेली फैलायी त्यों ही पावन-निर्मलकारी वह प्रभु-पदकी धूलि मनजीकी हथेलीपर रखते ही संत अन्तर्धान हो गये। मस्तक ऊँचा करके मनजीने देखा तो वहाँ संत नहीं थे—धरतीपर उनके चरण-चिह्न थे। मनजीने विरह-जनित उदास भावसे किन्तु भक्तिभरे भावसे उन चरण-चिह्नोंको बारम्बार नमस्कार किया। और सोचा कि इस धराधामपर ही स्वर्ग है, नर्क कहीं होगा, तो होगा।

प्रवासमें अधिक दिन बीत जानेसे मनजीके परिवार-सदस्योंको भारी चिन्ता हो रही थी, दामोदरका रोग सामान्य बना हुआ था। किन्तु पदरज लेकर जब मनजी घर लौटे, तो सबको अपार आनन्द प्राप्त हुआ, मानो अन्धकारमें एकाएक प्रकाश-पुंज चमक उठा हो।

मनजीने प्रसन्न चित्तसे पूर्ण विश्वासपूर्वक भुवनमोहनकी वह पदधूलि दामोदरके शरीर पर लगायी। क्या आश्चर्य कि दामोदरका कास-ज्वर उसी क्षण तिरोहित हो गया, और वह मित्र-मंडलीमें खेलने लगा।

अब तो सेठ मनजीका हरिभजन अबाधगतिसे चलने लगा। प्रथम दिन जो भगवत्प्रार्थना उन्होंने संतके मुखारविन्दसे पुरीके सागर-तटपर सुनी थी, उसीको वे रात दिन प्रेममग्न हो, गाया करते थे। वह यह :—

प्रतिपालक, प्रभुवर, पाहि माम्। अव्यक्त, अगोचर, अज अकाम॥
क्यों रूठे जीवन-कर्णधार? छोड़ी नैया यह बीच धार।
दनुजारि, दयानिधि पाहि माम्॥
भव-निधि तरिहौं केहि भाँति नाथ, जबलौं महेस गहिहौ न हाथ॥
करुणा-वरुणालय पुण्य धाम, प्रतिपालक, प्रभुवर, पाहि माम्॥

इस प्रकार सेठ मनजीके प्रभु-परायण हो जानेसे दूर-दूरकी जनता उनकी प्रार्थना-सभामें आकर लाभ उठाती रही। और मित्र धनजीको तो यह सब देखकर मित्रताके नाते सदा अत्यन्त आनन्द मिलता था।

●

गरुड़के मुखसे नाग मुक्त होकर भी हाथोंमें बना रहा !

कुषाणकालकी गरुड़ प्रतिमाएँ

डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम

★

कुषाणोंका शासनकाल, अर्थात् ईसवीय सन्‌की प्रथम दो शताब्दियाँ—ब्राह्मण धर्मके पूजा विग्रहोंका उदय काल था। वैसे इसका उषःकाल तो शुंग युगमें ही हो चुका था। परन्तु उसके प्रथम विकासके लिए कुषाणोंका युग और व्रजका क्षेत्र ही उपयुक्त सिद्ध हुआ। इस कालमें कई नवीन मूर्त्तियाँ बनीं और उनके ध्यान लोकमान्य होने लगे। इसकी झलक हमें कुषाणकालकी मूर्तिकला और साहित्यमें समानरूपसे मिलती है। उदाहरणार्थ गरुड़की प्रतिमाओंको लें। इस कालमें ब्राह्मण-धर्ममें गरुड़ विष्णुके वाहनके रूपमें प्रवेश पा चुके थे, परन्तु उनका मानवरूप अभी पूर्ण विकसित नहीं हुआ था। फलतः हम यहाँ पक्षी और मानवका अद्भुत संयोग पाते हैं। मथुराको निम्नांकित कला-कृतियोंमें गरुड़के दर्शन होते हैं :—

१. नाग या नागिनको चोंचमें लेकर, उसे हाथोंसे सँवारनेवाले पंख फैलाये गरुड़की प्रतिमाएँ—

मथुरा संग्रहालय—४१.२९१५, ६१.५३८४ (चित्र १)।
लखनऊ संग्रहालय—५९.१७० (चित्र २)।

२. नागसे जूझते हुए गरुड़—(चित्र ३)।
लखनऊ संग्रहालय—जे. ५४७ जे.६१४।

३. विष्णुके वाहनरूपमें अंकित गरुड़—
मथुरा संग्रहालय—५६,४२००।

४. स्वतन्त्र रूपसे अंकित गरुड़—

५. अलंकरणके रूपमें अंकित गरुड़—
मथुरा संग्रहालय—५७.४४४६।

६. अलंकरणके रूपमें किसी मुकुटधारी—कदाचित् विष्णु—पुरुषके वाहनरूपमें अंकित गरुड़—मथुरा संग्रहालय—९.४५ : २३६१।

७. बोधिसत्व प्रतिमाओंमें मुकुटोंपर अंकित गरुड़—मथुरा संग्रहालय—२३३६ : २३६१ : २५७३ इ०।

इनमें क्रमांक ६ और ७ के गरुड़ बहुत छोटे हैं, अतः इनकी सभी विशेषताओंका अध्ययन सम्भव नहीं है, परन्तु शेष मूर्तियोंमें निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(क) पक्षी रूप में अंकित होनेपर भी गरुड़के दोनों कान दिखलाये गये हैं जिनमें कुण्डल पड़े हुए हैं।

(ख) कहीं-कहींपर उनके दोनों पंजोंको हाथोंका रूप दिया गया है, जिनसे उन्होंने नाग या नागिनको पकड़ रखा है। इस प्रकारके हाथोंको दिखलानेकी प्रथा कुषाणकालमें चल चुकी थी। कतिपय विष्णुमूर्तियोंके मुकुटमें ऐसा अलंकरण दिखलायी पड़ता है, जिसमें सिंह दोनों हाथोंसे मुक्तामाला पकड़े हुए दिखलाया गया है।

(ग) गरुड़को मोरके समान कलंगी दिखलायी गयी है। बहुधा यह ऊपर उठी हुई रहती है, परन्तु कभी-कभी चौफेर मूर्त्तियोंमें इसे ललाटके ऊपर लटकता दिखलाया गया है।

(घ) इनके पंख बहुत अच्छे प्रकारसे अलंकृत दिखलायी पड़ते हैं।

ऊपर गिनायी गयी गरुड़-मूर्त्तिकी विशेषताएँ कलाकारकी रुचि या संयोगकी बातें नहीं थीं, वरन् उनके पीछे शास्त्रीय मान्यताएँ भी थीं, जिनके दर्शन महाभारतके हरिवंश पुराणमें होते हैं। यहाँ (हरिवंश, हरिवंशपर्व ४४.४१–४४, गीताप्रेस प्रति) बतलाया गया है, कि तारकामय संग्राममें देवसेनाका नेतृत्व करते समय अष्टभुज विष्णु गरुड़के ऊपर आरूढ़ थे, जिसका वर्णन इस प्रकार है—

(क) भुजग भोजन पक्षीरूप गरुड़ कश्यप के बेटे थे।

(ख) उनके मुख में भुजगेन्द्र निविष्ट दिखलायी पड़ता था।

(ग) उनके शरीर पर इन्द्रके द्वारा किये गये वज्राघातका चिह्न न था।

(घ) उनके शिखा और चूड़ा भी थी तथा कानोंमें सोनेके कुण्डल (तप्तकुण्डल) पड़े थे।

(ङ) विचित्र पंख उनके वस्त्र थे।

(च) सर्पकी फणामें लगे मणियोंसे वे कान्तिमान थे। स्पष्ट है कि कुषाणकाल के कलाकारके सामने हरिवंशका वर्णन अवश्य रहा होगा। यद्यपि दो प्रतिमाओंमें गरुड़के मुखमें नागके स्थानपर नागिन दिखलायी पड़ती है तथापि लखनऊ वाली मूर्त्तिमें एक फणा वाला नाग ही है। नागिनके लिए कोई साहित्यिक आधार मुझे अब तक नहीं मिला। जहाँ तक चूड़ा या शिखा, तप्त कुण्डल और विचित्र पंखोंका प्रश्न है, कुषाण कलाकरोंने उन्हें पूरी सचाई के साथ अंकित किया है।

इनमेंसे कुछ बातें कुषाणोत्तरकाल के कलाकारोंने भी अपनायी, परन्तु कुछ अपनी लोकप्रियता खो बैठीं। उदाहरणार्थ पक्षीरूप गरुड़के साथ मानवाकार गरुड़ सामने आया पर उसकी शिखा और कुण्डलोंका महत्त्व जाता रहा। नागिन या नाग उसकी चोंचसे मुक्त हो गया पर हाथोंमें बना रहा। इसके लिए महाभारतकी एक दूसरी कथासे सहारा मिला (उद्योग पर्व, १०५, ३१–३२) जिसके अनुसार विष्णु और इन्द्रके कहनेपर गरुड़ने सुमुख नामक नागको सदैव अपने हाथोंमें रखना स्वीकार किया था।

●

अपमानित क्षत्राणीकी प्रतिशोध भावना

पाण्डवदूत श्री कृष्ण और पञ्चाली कृष्णा

आचार्य श्री कृष्णमणि त्रिपाठी

★

महाभारत संग्रामका आरम्भ होनेके पहले भगवान् श्री कृष्णने उसे रोकनेके लिए महान् प्रयास किया, क्योंकि वे युद्धकी भयङ्करतासे पूर्ण परिचित थे और हृदयसे चाहते थे कि भारतमें कौरव तथा पाण्डवोंके बीच प्रलयकारी युद्धका अवसर उपस्थित न हो। उन्होंने सन्धियात्राके प्रसंगमें विदुरजीसे भी स्पष्ट कहा था—विदुर मैं तो निष्पक्ष भावसे धृतराष्ट्रके पुत्रों, पाण्डवों तथा भूमण्डलके सभी क्षत्रियोंके हितका ही प्रयत्न करूँगा—

हितं हि धार्तराष्ट्राणां पाण्डवानां तथैव च।
पृथिव्यां क्षत्रियाणां च यतिष्येऽहममायया॥

(महाभारत उ० पर्व ९३। १३)

जिस समय कौरव-पाण्डवोंमें परस्पर सन्धि करानेका प्रस्ताव लेकर भगवान् श्री कृष्ण हस्तिनापुरमें धृतराष्ट्रके पास जानेको उद्यत हो रहे थे, उस समय अर्जुनने उनसे कहा—जनार्दन! आप उभयपक्षके प्रिय सम्बन्धी हैं। हमलोगोंके साथ-साथ धृतराष्ट्रके पुत्रोंका भी मंगल करना आपका पुनीत कर्तव्य है। आप यहाँसे जाकर भाई दुर्योधन और धृतराष्ट्रसे ऐसी बातें करें जिनसे आपसमें शान्ति-स्थापन हो सके।

यह सुनकर केशवने कहा—पार्थ! जो आपलोगोंके लिए हितप्रद तथा कौरवोंका कल्याणकारक है उसी कार्यके लिए अब मैं धृतराष्ट्रके पास जा रहा हूँ। वहाँ पहुँचकर ऐसा ही प्रयास करूँगा कि आप दोनोंमें सम्मानसहित सन्धि हो जाय। कुटुम्बियोंमें कलह उपस्थित हो जानेके समय जो मित्र सभी उपायोंसे मेल करानेका प्रयास नहीं करता है, उसे विद्वान् लोग मित्र नहीं मानते—अतः आप दोनोंमें सन्धि करा देना मेरा परम कर्तव्य है—

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते।
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः॥

(म० भा० उ० प० ९३। १५)

इसी अवसरपर एक वीरहृदया स्वाभिमानिनी नारीके समान द्रौपदीने भी कुछ निवेदन करते हुए कहा—'मधुसूदन! आपको सब कुछ विदित है तथापि बीती हुई बात दुहरा रही हूँ। मैं साधारण नारी नहीं, स्वनामधन्य राजा द्रुपदकी पुत्री हूँ। मेरा जन्म परम पवित्र यज्ञवेदीसे हुआ है। यशस्वी वीर धृष्टद्युम्नकी बहन और आपके स्नेहकी भगिनी हूँ। विश्वविख्यात कौरव कुलमें मेरा विवाह हुआ है और धर्मात्मा महाराज पाण्डुकी पुत्रवधू हूँ। इन्द्रके समान पराक्रमी पाँचों पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ। मैंने पातिव्रत्य धर्मका पालन करते हुए पाँचों पतियोंसे पाँच महारथी पुत्ररत्न उत्पन्न किये हैं। जिस प्रकार अभिमन्यु आपका भाञ्जा है, उसी

प्रकार मेरे पाँचों पुत्र भी आपके स्नेहभाजन भागिनेय ही हैं। केशव ! मैं धर्मतः भीष्मपितामह और धृतराष्ट्रकी भी पुत्रवधू ही हूँ तथापि उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया, परन्तु वे चुपचाप देखते रहे। एक शब्द भी इस अत्याचारके विरोधमें न बोल सके। अपने वीर पतियोंके तथा आचार्य· द्रोण आदिके समक्ष मैं केश पकड़कर दुःशासनद्वारा कौरवोंकी सभामें लायी गयी। उस समय यदि आपने दया न की होती तो मैं नग्न हो गयी होती।

'वासुदेव ! कौरवोंने हमलोगोंको क्या-क्या कष्ट नहीं दिया, फिर भी धर्मराजने संजयसे दुर्योधनके पास यह सन्देश भेजा था कि 'तात ! हमें केवल पाँच ही ग्राम दे दो।' किन्तु दुराग्रही दुर्योधनने उनका वह वचन भी स्वीकार नहीं किया, बल्कि ऐलान कर दिया कि सुईकी नोक बराबर भी जमीन युद्ध किये बिना नहीं दे सकता।

'इस अवस्था में भी दुर्योधन यदि जीवित है तो अर्जुनके धनुष और भीमके बलको धिक्कार है, सहदेवकी विद्वत्ता व्यर्थ है और नकुलका युद्ध-कौशल भी निष्फल है। यदि धर्मराज कायर होकर शत्रुओंके साथ सन्धिकी कामना करते हैं तो, अब मेरे वृद्ध पिताको संरक्षकतामें मेरे पाँचो पराक्रमी पुत्र वीर अभिमन्युको प्रधान बनाकर कौरवोंके साथ युद्ध करेंगे। सन्धिकी चर्चा बाणके समान मेरे हृदयमें चुभ रही है और मेरा मस्तिष्क विकृत होता जा रहा है। प्रज्वलित अग्निके समान धधकते हुए क्रोधको हृदयमें दबाकर प्रतीक्षा करते-करते आज १३ वर्ष बीत गये।

इतना कहकर अपने केशोंको हाथमें लेकर कृष्णको दिखाती हुई कृष्णा फिर कहने लगी—'देवकीनन्दन ! अब आप स्वयं सन्धि करानेके निमित्त हस्तिनापुर जा रहे हैं देखिये, शत्रुओंके साथ सन्धिवार्ता करते समय आप दुष्ट दुःशासनके हाथोंसे खींचे गये इन मेरे बिखरे हुए केशोंको न भुला दीजियेगा।' इतना कहते-कहते द्रोपदीकी आखें भर आयीं, कण्ठ अवरुद्ध हो गया, वाणी कुण्ठित हो गयी और वह कातर हो श्री कृष्णकी ओर देखने लगी।

तेजस्विनी द्रोपदीकी यह दशा देखकर भगवान् श्री कृष्णका हृदय द्रवीभूत हो गया वे गंभीर स्वरसे उसको सान्त्वना देते हुए बोले—'द्रुपद राजकुमारी ! तुम आँसुओंको रोको, मैं तुम्हारे समक्ष सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, यदि कौरव मेरी बात नहीं सुनेंगे तो बेमौत मारे जायेंगे। धर्मराज हस्तिनापुरके राजसिंहासनपर आसीन होंगे और तुम उनकी पटरानी बनोगी।'

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे ! वाष्पं निरुध्यताम्।
हतामित्रा श्रियायुक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥

(म० भा० उ० प० ८२।४९)

'नक्षत्रोंसहित द्युलोक टूटकर गिर जाय, हिमालय अपने स्थानसे विचलित हो जाय और पृथ्वीके सैकड़ों टुकड़े हो जायँ, किन्तु यह मेरी बात झूठी नहीं हो सकती।

चलेद्धि हिमवान् शैलः मेदिनी शतधा फलेत्।
द्यौः पतेत् सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्॥

(महाभारत उद्योग पर्व ८२।४८)

वर्तमान समस्यापर अध्ययनपूर्ण यौक्तिक दृष्टि

वेदमें अस्पृश्यता और अस्पृश्यताकी समस्या

श्रीजयदयाल डालमिया

★

यजुर्वेदके ३०वें अध्यायमें कुछ मन्त्रोंमें आर्यसमाजके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जीके भाष्यके अनुसार किसी-किसी व्यापार (पेशे) विशेषवाले व्यक्तिको दूर बसानेकी या दूर रखनेकी बात मिलती है। जिसका प्रकारान्तरसे अस्पृश्यता ही अर्थ बनता है। जैसे—

१. (मृत्यवे) मृत्युको प्रवृत्त हुए (मृगयुम्) व्याधको तथा (अन्तकाय) अन्त करनेवालेके हितकारी (श्वनिनम्) बहुत कुत्ते पालनेवालेको अलग बसाइये ॥ ७ ॥

इसका भावार्थ महर्षि दयानन्द जीने स्वयं ही इस प्रकार स्पष्ट किया है—**हिंसक तथा कुत्तोंके पालनेवाले चाण्डालादिको दूर बसावै।**

२. हे जगदीश्वर वा राजन्! आप (बीभत्सायै) धमकानेके लिए प्रवृत्त हुए (पौल्कसम्) भंगीके पुत्रको पृथक् कीजिये ॥ १७ ॥

३. (वायवे) वायुके स्पर्शके अर्थ (चाण्डालम्) भंगीको दूर कीजिये ॥ २१ ॥

इसका भावार्थ महर्षि दयानन्द जीने स्वयं ही इस प्रकार स्पष्ट किया है—**भंगीके शरीरसे आया वायु दुर्गन्धयुक्त होनेसे सेवने योग्य नहीं होता।**

७वें मन्त्रमें 'मृत्यवे मृगयुम्' 'अन्तकाय श्वनिनम्' को दूर बसानेकी बात कही गयी है। 'मृत्यवे मृगयुम्' का भाव पशुओंको मारनेवाले हिंसक व्याधका लिया है तथा 'अन्तकाय श्वनिनम्' का भाव अन्त करनेमें प्रवृत्त कुत्ते पालनेवालेका लिया है। मोनियर विलियम संस्कृत-अंग्रेजी कोषमें 'अन्तका अर्थ अन्त करनेवाला, मृत्यु करनेवाला अर्थात् हत्यारा या यमराज है। इस प्रकार ७वें मन्त्रके इन शब्दोंका यह अर्थ भी हो सकता है। पशुहिंसामें प्रवृत्त व्याधको, प्राणान्त करनेमें प्रवृत्त कुत्ते पालनेवाले हत्यारेको दूर बसावें। ७वें मन्त्रमें 'श्वनिनम्' का अर्थ चाण्डाल लेना शायद उपयुक्त न हो क्योंकि 'चाण्डाल' शब्द २१वें मन्त्रमें स्पष्ट आता है। व्याधका पेशा पशुओं और चिड़ियोंको फँसाना, बेचना तथा मारना होता है। हत्यारेका पेशा राजाज्ञासे मृत्युदण्ड देनेके लिए मनुष्योंकी हत्या करनेवाला भी है तथा शिकारी कुत्तोंकी सहायतासे निर्दोष वन्य पशुओंकी हत्या करनेवाला भी हो सकता है।

१७वें मन्त्रमें 'बीभत्सायै पौल्कसम्' का भाव 'वीभत्स कर्ममें प्रवृत्त पौल्कसम्' लिया है। महर्षि दयानन्द जीने 'पौल्कस' का भाव 'भंगीका पुत्र' लिया है। मौनियर विलियमने संस्कृत अंग्रेजी कोशमें 'पौल्कस' का अर्थ 'निषाद पुत्र' लिया है। निषादका पेशा वनमें कृषि करना, वन्य फलोंका चयन और उपभोग करना और शिकार करना होता है। भंगी पुत्रका पेशा आजकलके हिसाबसे पाखाना साफ करना और उसको ढोना होता है। निषाद पेशेको बीभत्स कहना ठीक नहीं लगता। भंगीका पेशा भी वीभत्स नहीं घृणित भले ही हो। बीभत्स पेशा या तो जल्लादका होता है या कसाईका अथवा मृत जानवरोंके चमड़े उधेड़नेका। अतः यह भी सम्भव है 'पौल्कस' शब्दसे कसाई या जल्लादका भाव हो।

प्राचीन कालमें रहन-सहन गांवोंका या आश्रमोंका-सा होता था। जो राजधानीके बड़े शहर होते थे वे भी नदीके किनारे-किनारे लम्बे बसे हुए हुआ करते थे। अतः शौचादिके लिए प्रायः सभी लोग खुले जंगलोंमें जाया करते थे। भंगीकी सेवाकी आवश्यकता प्रायः नहीं पड़ती थी। वेदोंमें पशुओंकी हिंसा वर्जित है, इसलिए उस समयमें कसाई पेशेवाले लोग भी नहीं होते थे। अतः १७वें मन्त्रके 'पौल्कस' शब्दका अर्थ निषाद-पुत्र अधिक उपयुक्त लगता है। निषाद भी हिंसक आजीविकावाले होनेसे उसको भी समाजसे दूर रखनेकी बात कही गयी लगती है। व्याधके पेशेसे निषादका पेशा थोड़ा अच्छा है। निषाद वन्य फलोंका उपयोग भी करते हैं, कृषि भी करते हैं और पशुओंकी हिंसा भी करते हैं। व्याधका पेशा पशुओंको तथा चिड़ियोंको फँसाना, उनको बेचना और उनको मारना होता है।

२१वें मन्त्रमें 'वायवे चाण्डालम्' शब्का अर्थ दूषित वायुसे युक्त चाण्डाल है। चाण्डालका अर्थ महर्षि दयानन्द जीने भंगी किया है। पाखाना साफ करने और ढोनेके पेशेके कारण भंगीका शरीर भी दुर्गन्ध युक्त वायुसे पूर्ण रहता है। चाण्डालका पेशा मृत पशुओंका चमड़ा उधेड़नेका होनेसे मृत पशुओंके दुर्गन्ध युक्त मांसके सम्पर्कमें आनेसे मृत पशुओंका मांस खानेसे उसका शरीर भी दुर्गन्धयुक्त वायुसे परिपूर्ण रहता है। ऊपर इस वातका विवेचन हो चुका है कि प्राचीन कालमें भंगीकी सेवाकी आवश्यकता नहीं होती थी। अतः यहाँ 'चाण्डाल' का अर्थ 'भंगी' न लेकर 'चाण्डाल' भी लिया जा सकता है।

इस प्रकार यजुर्वेद ३०वें अध्यायके ७वें, १७वें और २१वें मन्त्रके अनुसार (१) पशुओं और चिड़ियोंको फँसानेवाले, उसको विक्रय करनेवाले तथा मारनेवाले व्याधको, (२) अन्त करनेवाले अर्थात् राजाज्ञासे दंडित मनुष्यकी तथा शिकारी कुत्तोंकी सहायतासे निर्दोष वन्य पशुओंकी हत्या करनेवालेको, (३) बीभत्स कार्यमें प्रवृत्त 'पौल्कस' को, (४) दुर्गन्धयुक्त वायुसे परिपूर्ण शरीरवाले चाण्डालको दूर बसावें। इसका स्पष्ट भाव यही है कि इन पेशेवालोंको साधारण समाजके साथ रखना उचित नहीं। वर्तमान जमानेमें भी निर्दोष पशुओं और चिड़ियोंको फँसानेवाले पेशेवरको, जल्लादको, बीभत्स कर्ममें प्रवृत्त पौल्कस (कसाई जैसे) को, मृत पशुओंका चमड़ा उधेड़नेवालोंको अलग बसाते हैं, उनके अलग मोहल्ले (कालोनी) होते हैं। यह सब उनके पेशे विशेषके कारण है।

प्रश्न उठता है कि उनसे ऐसा पेशा क्यों लिया जाता है ? क्योंकि समाजके व्यक्ति अपनी मौज-शौक पूरी करनेको अन्य पशुओंको तथा चिड़ियोंको पालते हैं, कोई-कोई खाते भी हैं। जबतक समाजसे इसको उठाया न जाय तबतक कोई-न-कोई इस पेशेमें प्रवृत्त होगा ही। पैसेका लोभ किसको नहीं है।

इसी तरह जल्लादका पेशा भी जबतक मृत्युदण्डकी सजा है तबतक बना ही रहेगा। मृत्युदण्डकी घोषणा करनेवाले न्यायाधीश अथवा राजा या तो स्वयं यह कार्य करें या किसी दूसरेसे करवावें। अच्छा तो हो कि घोषणा करनेवाले स्वयं ही करें, नहीं तो फिर इस पेशेकी भी एक जाति या श्रेणी होगी ही।

पशु अपनी मौत मरेंगे ही। उन मरे हुए पशुओंको जन-समुदायके बीचसे हटाकर कहीं एकान्त स्थानमें ले जाकर उनका चमड़ा उधेड़ना, हड्डी और मांस इत्यादि अलग-अलग करना—इसके लिए भी कोई व्यक्ति चाहिए ही। या तो पशु पालनेवाले अपने-अपने मृत पशुकी ये क्रियाएँ स्वयं करें या किसी दूसरेसे करवावें। जो भी कोई इस क्रियाको करेगा उसका वह व्यापार घृणित तो होगा ही। जिस स्थानपर भी पशुका चमड़ा उधेड़ा जायेगा वह स्थान गंदा भी होगा। वहाँ मांस भी सड़ेगा। सड़ा मांस खानेवाले पशु-पक्षी भी वहाँ एकत्र होंगे। ऐसी क्रिया करनेवाले लोग स्वयं भी मृत पशुका मांस खाते हैं। कोई नया व्यक्ति ऐसे पेशेके लिए तैयार हो यह बात कठिन लगती है। जो व्यक्ति इस पेशेको करते आ रहे हैं उनकी इससे घृणा दूर हो चुकी है। उनके बाल-बच्चोंके लिए भी अपने बड़े लोगोंको यह पेशा करते देखते हैं इससे उनकी भी घृणा दूर हो जाती है। ऐसी हालतमें उस परिवारके बाल-बच्चे ही बड़े होकर इस पेशेको अपना सकते हैं, दूसरा कोई नहीं।

भंगीका पेशा, जैसा ऊपर लिखा गया है प्राचीनकालमें प्रचलित शायद नहीं था। जैसे लोगोंमें ऐश-आरामी बढ़ती गयी, खान-पान भी विलासिताका होता गया तो लोगोंको एकबारसे अधिक शौचके लिए जानेकी आवश्यकता होने लगी। जंगलमें शौचके लिए अंधेरे-अंधेरे जाना होता है। जो लोग ऐश-आराममें सूर्योदयके बहुत पहले सोकर नहीं उठते, उनको घरके निकट ही मल-त्याग करनेकी आवश्यकता पड़ने लगी और उसके लिए भंगीका पेशा भी बनाया गया होगा।

जबतक समाज पशु-पक्षियोंको खायेगा, पशुओंसे सेवा लेगा, घरके पास मलमूत्रका त्याग करेगा और अपनी-अपनी इस प्रकारकी सेवा स्वयं नहीं करेगा तबतक ऐसे पेशेवाले लोगोंकी आवश्यकता होगी ही। ऐसा पेशा करनेवाले लोगोंको अलग बसाना ही होगा। केवल भंगी एक ऐसी श्रेणी है जिनको शहरोंमें सम्पन्न लोग अपने-अपने घरोंके निकट जगह देकर रखते हैं जिससे कि जब आवश्यकता पड़े तभी उसकी सेवा प्राप्त हो सके। लेकिन नगर-निगमोंकी ओरसे सेवा करनेवाले भंगियोंको बसानेके लिए अलग कालोनी बनती हैं जिससे सब लोग एक साथ आमोद-प्रमोद कर सकें।

इस प्रकारके पेशेवालोंके साथ उच्च समुदायके लोग नित्यके आमोद-प्रमोदमें भाग नहीं लेते। उनको भी अपने अवकाशके समय अपने ढंगके आमोद-प्रमोद चाहिए। अतः उन सबके अपने-अपने अलग मोहल्ले होते हैं। उनके बड़े-बूढ़े लोग अपनी-अपनी श्रेणीके लोगोंकी देखभाल करते हैं, आपसके झगड़े निपटाते हैं और कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्यसे च्युत न हो इस बातका ध्यान रखते हैं। आजीविकाके पेशेके अतिरिक्त सभी लोगोंके मानवीय कर्तव्य भी होते हैं। सब अपने-अपने कर्तव्यमें लगे रहें इसकी निगरानीके लिए उनमें भी अपने-अपने पंच-चौधरी होते हैं।

यदि ऐसे वीभत्स एवं घृणित पेशोंकी—सेवाओंकी समाजके लिए आवश्यकता बनी रहती है तो जो लोग ऐसा पेशा करते आ रहे हैं, उनकी मनोवृत्ति उस प्रकारके पेशोंके अनुकूल बन चुकी है, दूसरे नये व्यक्तियोंके लिए इस प्रकारके वीभत्स-घृणित पेशोंके लिए मनोवृत्ति बनाना बड़ा कठिन काम है। भविष्यके लिए भी ऐसे पेशेवालोंके बाल-बच्चे ही उन पेशोंको अपना सकते हैं क्योंकि अपने पूर्वजोंको वैसा करते हुए देखते-देखते उनकी भी मनोवृत्ति वैसी बन जाती है जिससे उनको वैसा पेशा अपनानेमें कठिनाई या आपत्ति नहीं होती।

सरकार तथा समाज विचार करें कि समाजके लिए अत्यावश्यकीय ऐसे वीभत्स-घृणित पेशेवाले लोगोंकी जो ऐसे पेशेमें लगे हुए हैं अथवा उनके पेशोंके बड़े कारखाने खुल जानेसे उनमेंसे बहुतसे लोग कामके अभावमें बेकार बैठे हैं उनकी समुन्नति कैसे हो? किस प्रकार उन्हें समाजमें ऊँचा उठाया जाय? किस प्रकार उनको अस्पृश्य होनेसे बचाया जाय? उनका यह पेशा छुड़वाकर उन्हें अन्य उच्च श्रेणीका पेशा आजीविकाके लिए किस प्रकार दिया जाय? आदि-आदि विषय गंभीरतासे विचारणीय हैं। केवल वक्तव्य झाड़नेसे, नारे लगानेसे अथवा कुछ व्यक्तियोंको कानूनी सजा दिलाकर आतंक पैदा कर देनेमात्रसे कुछ होनेका नहीं है। यदि समाज उनसे या अन्य किसीसे इस प्रकारकी सेवा लेना अत्यन्त आवश्यक समझता है, तो ऐसी सेवा लेते हुए सभी जन-समुदायके लिए उनको किस प्रकार अस्पृश्य होनेसे बचाया जाय? यह बहुत विकट प्रश्न है जिसका समाधान बहुत आसानीसे आदेश जारी कर देनेमात्रसे नहीं होनेका। जब ऐसे पेशेके लोग रहेंगे और उनकी आर्थिक अवस्था हीन बनी रहेगी तो उच्च समाजके लोग प्रसन्नताके साथ तथा छूटके साथ शायद ही उनके साथ खान-पान और रहन-सहन करनेको तैयार होवें।

•

सद्गुणोंको अपने हृदयमें रखनेका नाम संस्कृति है ।

हमारी संस्कृति और हमारे पूर्वज

श्रीस्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

★

हमें अपने बचपनकी याद आती है—जब संस्कृत पढ़ना, हिन्दी पढ़ना प्रारम्भ किया था । पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तकें पढ़ते थे तब, हमें स्मरण नहीं आता, उस समय संस्कृति शब्दका प्रयोग अधिक मिलता हो । कहीं-कहीं ऐसा प्रयोग मिला होगा उसका स्मरण न हो, यह बात दूसरी है, परन्तु उन दिनों प्रचलित सरस्वती, सुधा, माधुरी, हिन्दूपंच, विशाल भारत, हंस, मर्यादा, मनोरमा आदि पत्रिकाओंमें भी संस्कृति शब्दका प्रयोग नहीं मिलता था, ऐसा मेरा स्मरण है । वैसे संस्कृति शब्द संस्कृतका है । जब संस्कृत भाषामें संस्कृत, संस्कार शब्द हैं तो संस्कृति शब्द क्यों नहीं होगा ! वह है । पर उन दिनों धर्म शब्दका प्रयोग करना लोग अधिक पसंद किया करते थे ।

पंचभूतोंके मिश्रणसे ही संस्कारानुसार, कर्मानुसार जीवोंके भिन्न-भिन्न शरीर बनते हैं । यह आप निश्चत समझें कि एक ब्रह्म कहनेसे शरीर-शरीरमें जो अलगाव है, उसकी संगति नहीं लगती । जब सब ब्रह्म, सब महत्, सब अहंकार, सब पंचभूत है तो इसमें एक स्त्री, एक पुरुष, एक पशु, एक पक्षी, क्यों ? यह जो आकृतियोंका, जातियों, मनुष्य, पशु-पक्षियोंका भेद है यह केवल भौतिक दृष्टिसे है, तात्त्विक दृष्टिसे इनकी संगति नहीं लगती । इनकी संगति लगानेके लिए कर्म-संस्कारकी आवश्यकता पड़ती है । बिना कर्म-संस्कारके हुए ईश्वर भी इन-इन भिन्न-भिन्न आकृतिवाले प्राणियोंका निर्माण नहीं कर सकता, अन्यथा उसमें वैषम्य, नैर्घृण्य दोष उपस्थित होता है कि उसने किसीके साथ पक्षपात करके उसे मनुष्य और किसीके साथ निर्दयता करके उसे पशु क्यों बनाया ? किसीकी आकृति मनुष्यकी और किसीकी पशुकी क्यों बनी ? सब जीव हैं और सभीके शरीरमें पंचभूत है तो इस आकृति-भेदकी संगति लगानेके लिए हमें कर्म-संस्कारको मानना पड़ता है ।

अनादि कालसे यह जीव जन्म-मरणके चक्रमें फँसकर इस संसारमें भटक रहा है । अनेक बार जन्म-मरण और सृष्टि-प्रलय होनेके बाद कहीं मनुष्यशरीर प्राप्त होता है इस जीवको । उस समय पाप और पुण्य, दोनोंके संस्कार प्रायः बराबर-बराबर पहुँचे हुए होते हैं । प्रायःका अभिप्राय किसीमें पापोत्कर्षकी प्रधानता और किसीमें पुण्योत्कर्षकी प्रधानता

देखनेमें आती है। पापकी अधिकतासे पशु, पक्षी एवं नारकीय योनियाँ, और प्रायः कर्मोंमें समता आने पर मिश्रकर्मसे मनुष्ययोनि प्राप्त होती है। जब पाप और पुण्य दोनों प्रकारके संस्कार मनुष्यके अंतःकरणमें विद्यमान है तो उसके जीवनमें कौनसे संस्कार उदय हों, इसके लिए अगर धर्मके संस्कार जोड़ोगे तो वैसे ही पुराने संस्कार उदय होंगे।

प्रकृतिमें जन्म और मरण होना—यह दोनों ही विकृति है। यहाँ संस्कृतिकी आवश्यकता है जिससे कि पूर्व-पूर्वके पुण्यसंस्कार जाग्रत् हों। जो पापके संस्कार जगायेगा, वह आगे पशु पक्षी आदि योनियोंमें जायगा और जो पुण्यके संस्कार जगायेगा, वह पवित्र योनियोंमें जायगा। अथवा यदि अंतःकरण निष्काम हो गया, ठीक-ठीक शुद्ध हो गया, तो इसी जीवनमें भगवान्का भजन करके, सद्‌गुरुकी कृपा प्राप्त करके तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञानके द्वारा अर्थका विचार करके, अविद्याके कारण इन प्रकृतियों, विकृतियों, संस्कृतियोंमें जीव जो तादात्म्यापन्न हो गया है, उनसे—मैं और मेरेके बंधनसे छूट जायगा। अध्यासकी निवृत्ति हो जायगी। इसलिए धर्मानुष्ठानके द्वारा संस्कार बदलनेकी जरूरत है। अंग्रेजी भाषामें धर्म शब्दका जो अर्थ है संस्कृत साहित्यमें हमलोग जिस अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग करते हैं, उस अर्थमें नहीं है।

यऽतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिससे अभ्युदय और निश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म हैं। **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः** विहित कर्मानुष्ठानका नाम ही धर्म है। अंग्रेजी भाषामें धर्मके लिए प्रयुक्त रिलिजन शब्द मजहबका, सम्प्रदायका वाचक है। वह हमारे शास्त्रीय अर्थसे भिन्न है। माँके पेटमें जब बच्चा आता है तो कुछ दोष होते हैं बीजमें, और कुछ दोष आता है गर्भमें। ये वैजिक, गार्भिक नामके दो तरहके पाप होते हैं। एक तो पिताकी वासनासे, कामवासनासे प्रेरित हो करके, धर्माधर्म वासनासे संस्कृत मनके द्वारा शरीरके द्वारा उसने गर्भाधान किया, और नौ महीने माताके द्वारा, पेटमें बालक रहा तो माताके मनमें भी कभी काम, कभी लोभ, कभी क्रोध आता है। कभी बुरी-बुरी वासनाएँ उठती हैं और उनके कारण वह बुरे कर्म करती है, तो उसका प्रभाव भी बच्चेपर पड़ता है। इसलिए जब बच्चा गर्भमें आ जाय तब माता-पिताको बहुत सावधान रहना चाहिए। इसलिए गर्भाधान नामक संस्कार बालकके पेटमें आते ही किया जाता था। तो यह संस्कार धर्म है।

इसके बाद पुंसवन संस्कार होता था, अच्छा पुत्र उत्पन्न हो, इस कामनासे इसके बादमें सीमन्तोन्नयन संस्कार होता था, जन्म होनेपर जातकर्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत आदि संस्कार होते थे। इस तरह गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त हमारे यहाँ सोलह प्रकार के धर्मानुष्ठानरूप संस्कार किये जाते थे, जिससे आनेवाली पीढ़ियाँ नैतिक, धार्मिक और चारित्रिक दृष्टिसे उन्नत हों। उनका इहलोक और परलोक बने। शुरूसे ही बालकके मनमें यह बात बैठायी जाती थी कि बेटा, तुम ब्राह्मण हो, तुम वैश्य हो, तुम क्षत्रिय हो, तुम केवल प्रकृतिके विकार, पशु-पक्षियोंके समान एक शरीरधारी नहीं हो, बल्कि एक विशेष धर्मके लिए, एक

प्रकारके विशेष कर्तव्यका पालन करनेके लिए तुम्हारा जन्म हुआ है और तुम्हें सारा जीवन उस कर्तव्यका पालन करना है। जब बालकको आठ-दस वर्षकी आयुमें माता-पितासे अलग करके गुरुकुलमें—ऋषिकुलमें ब्रह्मचारी बनाकर भेज दिया जाता था तब अपने कुलके प्रति, माता-पिताके प्रति उसके मनमें पक्षपात होता था। जिस ममताके कारण बालक बड़ा होकर पाप करते हैं, वह ममता तो दूर रहनेसे निर्बल हो जाती थी, और उनको यह प्रेरणा मिलती थी कि हमें अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिए। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव यह आदरकी बुद्धि उनके मनमें आती थी।

विवाह संस्कार भी भोगके नियंत्रणके लिए, धर्मके लिए अपनी कामवासना रोकनेके लिए होता था। इसके बाद आप देखिये, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम। सबके मनमें यह बात रहती थी कि एक दिन हमको भोग-विलास छोड़कर वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करना है तो हमको भोग-विलासमें ज्यादा लिप्त नहीं होना चाहिए! एक दिन सबको छोड़कर हमें संन्यासाश्रम ग्रहण करना है तो परिवारमें आसक्ति तथा ज्यादा संग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक दिन यह सब छोड़ना ही है। इस प्रकार बालकके मनमें प्रारम्भसे ही यह संस्कार डाले जाते थे मातृसेवा, पितृसेवा, गुरुसेवा, ईश्वरपूजन, वेदपर श्रद्धा, कुलधर्मपर श्रद्धा, उनके अनुष्ठानके लिए तपस्या, आगे तपस्वी जीवनकी, त्यागकी तैयारी आदि। इससे मनुष्य बेईमानीसे, व्यभिचारीसे, हिंसासे स्वयं ही बचने लगता था। उसके मनमें वेदके संस्कार, धर्मके संस्कार बालकपनमें ही भर दिये जाते थे।

तो हमें बालकपनका वह स्मरण बना हुआ है, जब हम धर्म नामसे इसे करते थे। परन्तु जब अंग्रेजीका संस्कार लोगोंके चित्तमें ज्यादा बढ़ा, तब उनको यह लगा कि धर्म-धर्म कहनेसे तो मजहबका बोध होता है और इधर मुस्लिम, ईसाई पारसी, सिख, हिन्दू आदि मजहब और यहाँ रिलीजनके नामपर मजहबके नामपर लड़ाई झगड़े होते हैं। तो उन लड़ाई-झगड़ोंसे लोगोंका पिण्ड छुड़ानेके लिए कुलचर्या अपने कुलकी चर्या, उसका अपभ्रंश एक शब्द है अंग्रेजीमें—कल्चर। उसका अर्थ हिन्दीमें संस्कृति कर दिया। अभी हालमें तीस-पैंतीस वर्षके भीतर ही लोगोंने संस्कृति शब्दका प्रयोग प्रारम्भ किया है। इसके पहले धर्म शब्दका प्रयोग होता था। इसी प्रकार संस्कारसंपन्न, यज्ञोपवीतादि संस्कारोंसे सम्पन्न व्यक्तियोंके द्वारा व्यवह्रियमाण भाषाका नाम ही संस्कृत है।

कामसम्बन्धी विकृतिके कारण मनुष्य व्यभिचारी, अनाचारी न बन जाय, इसके लिए ब्रह्मचर्यका, नियमनका संस्कार उसके अन्दर आना चाहिए। इसीको संस्कृति कहते हैं। मनुष्य लोभके कारण नहीं अपितु जनताकी सुख-सुविधाके लिए कर्तव्य बुद्धिसे व्यापार करें। हमारे पूर्वज नावों द्वारा समुद्र-पारके देशोंसे व्यापार किया करते थे—ऐसा वर्णन वेदोंमें आता है—

नावा सिन्धुमतितरेम।

हम लोग जहाजके द्वारा समुद्र-पार यात्रा करनेके लिए जाते हैं।

ऋग्वेदमें ऐसा वर्णन है कि पहले वैसी नावें होती थीं, जिन्हें पाँचसौ-पाँचसौ व्यक्ति मिलकर चलाते थे, इतनी बड़ी-बड़ी नावें समुद्रमें घूमा करती थीं। जो चीज जहाँ नहीं होती उसे वहाँ पहुँचाना, जहाँ गेहूँ नहीं होता वहाँ गेहूँ पहुँचाना, जहाँ चावल नहीं होता वहाँ चावल पहुँचाना, जहाँ कपड़ा न हो वहाँ कपड़ा पहुँचाना इस देशके व्यापारियोंका उद्देश्य था। व्यापार तो हमारी प्राचीन वस्तु है, किन्तु उसमें जब लोभ घुसता है तब उसके साथ ही चोरी, बेईमानी भी घुसती है। हम व्यापार तो करें किन्तु उसमें चोरी-बेईमानी न हो, वह लोभसे नहीं धर्मबुद्धिसे प्रेरित हो। यह निष्काम व्यापार हुआ। इसी प्रकार हमारी सन्तान तो पैदा हो किन्तु काम-प्रेरणासे नहीं, वंशरक्षाके लिए। विवाह कर्तव्य बुद्धिसे हो, काम-प्रेरणासे नहीं, नेचरकी माँग पूरी करनेके लिए नहीं।

हिंसा भी कर्तव्य होता है। जल्लादका कर्तव्य हिंसा होता है सैनिकका भी आत्म-रक्षापूर्वक देशकी रक्षाके लिए हिंसा कर्तव्य होता है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, सांवैधानिकी हिंसा हिंसा न भवति।

यह बात सर्वमान्य है, सम्पूर्ण विश्वके कानूनमें मान्य है। परन्तु हम जब द्वेषवश हिंसा करते हैं, तब वह पाप हो जाता है। मनुष्य जब सुनता है कि उसका कोई शत्रु है, तब मनमें द्वेष आता है। द्वेपसे क्रोध आनेपर धड़ांस आती है। इस धड़ांस-उत्तेजनाके कारण वह सामनेवालेको गाली देने लगता है, उसे अन्यायसे मारनेको उद्यत हो जाता है, किन्तु यह धड़ांस हमारे कर्तव्यके अंतर्गत नहीं आती। किसीको गाली देना, नीच कहना यदि हमारी सीमामें, हमारी मर्यादाको भंग करनेके लिए कोई अवैधानिक रूपसे प्रवेश करता है तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि उसे गोली मार दें, उसकी हिंसा कर दें। सैनिक कमांडरके आदेश पर ही गोली चलाता है। वहाँ आदेशपालनरूप कर्तव्य उसके सामने है। वहाँ व्यक्तिगत द्वेष या कटुता उसमें नहीं है। यदि आदेश देनेपर भी वह गोली न चलाये तो उसको अवज्ञाका अपराध लगेगा। इस तरह यहाँ हिंसा आज्ञापालनरूप कर्तव्य हुई। कर्तव्यके साथ जब द्वेष मिल जाता है तब हिंसा पाप हो जाती है। जब सन्तानोत्पादनके साथ काम मिल जाता है जो व्यभिचार करवाता है, तब वह पाप हो जाता है। जब व्यापारके साथ लोभ और चोरी-बेईमानी मिल जाते हैं, तब वह पाप बन जाता है। इस तरह हमारी संस्कृति यह बताती है कि हमारे व्यापारमें लोभकी नहीं, धर्मकी प्रधानता हो, कामनाकी प्रेरणासे हमारे भोगी-विलासी सन्तान न हो, धर्मनिष्ठ एवं कर्तव्यपरायण सन्तान हो। हमारे कर्तव्यनिष्ठ लोग चाहते हैं कि हमारी क्षात्रशक्ति-क्षत्रियशक्ति हमेशा परिपूर्ण रहे, किन्तु वह द्वेष या क्रोधके वशमें होकर अपनी शक्तिका प्रयोग न करे। हमेशा धर्मके अनुसार ही, जहाँ कर्तव्यवश हिंसा करना पड़े वहाँ हिंसा करें, परन्तु वह द्वेष या क्रोधके वश होकर न करे। यही गीताका कर्मयोग है। गीतामें हिंसा भी कर्तव्य है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कान्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

गीताके ये प्रसंग ध्यान देने योग्य हैं। हमारे धर्म-सम्बन्धी, कर्तव्य-सम्बन्धी शास्त्रीय निर्णयोंको देखना चाहिए। भीष्मपितामह परशुरामसे युद्ध करते हैं, परन्तु परशुरामके प्रति उनका आदर भाव बना हुआ है। उनके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं है। वाल्मीकीय रामायणमें यह प्रसंग है—रावणकी मृत्यु हो जानेपर उसके अन्त्येष्टि संस्कारका प्रश्न उठा। विभीषण बोले—मैं ऐसे पापीका अन्त्येष्टि संस्कार करनेको तैयार नहीं हूँ।

भगवान् श्री रामचन्द्रने कहा—'मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।' मृत्युतक वैर था वह तो हो गयी। हमारा प्रयोजन पूरा हो गया। इसने हमारे पौरुषका तिरस्कार किया था, हमने वह पौरुष अपना शौर्य प्रकट कर दिया अब इसका अन्तेष्टि-संस्कार ठीक होना चाहिए, जिससे इसका परलोक ठीक बने। हम इसका परलोक नहीं बिगाड़ना चाहते। तुम्हारा कर्तव्य है, तुम जाकर अपने भाईकी अत्येष्टि करो।

हमारी संस्कृति सर्वथा वेदशास्त्रके अनुसार धर्मके अनुसार ईश्वरकी इच्छाके अनुसार है। यह द्वेषपर आधारित नहीं है। आपको भारतीयोंकी और क्या बात बताऊँ? दुर्योधनको तो लोग बहुत गाली देते हैं, क्योंकि वह अधर्मपक्षमें था और युधिष्ठिर धर्मपक्षमें थे। धर्मराज थे युधिष्ठिर और अधर्मका अवतार था दुर्योधन, किंतु इसके सम्बन्धमें ऐसी आख्यायिका है कि छल-कपट, कूट-युद्ध, अधर्म-युद्ध दुर्योधनको भी पसंद नहीं था। यह इसके कालमें कई बार हुआ तो जरूर परंतु जब विवेकका, बुद्धिका काम पड़ता था तब वह साफ साफ कह देता था कि हमको यह काम पसंद नहीं है। अश्वत्थामाने जब पांडवोंके पाँच पुत्रोंका रात्रिमें सोते समय बध कर दिया और उनका सिर लेकर दुर्योधनके पास पहुँचा तब दुर्योधनने नाराज होकर कहा,—अश्वत्थामा! तुमने हमारे वंशका, हमारे कुलका अंत कर दिया। तुम्हारे इस निन्दित कर्मको सभी लोग घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे।

दुर्योधनको यह घटना बहुत अप्रिय लगी कि अश्वत्थामाने धर्मके विपरीत पांडवोंके पुत्रोंको मार डाला। अभिप्राय यह कि हमारे अधर्म पक्षके कहे जानेवाले लोगोंकी धर्ममें बड़ी भारी निष्ठा थी और उसके अनुसार वे चलते थे।

भागवतका एक प्रसंग है कि इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध हो रहा था। वृत्र असुर होकर भी बड़ा भगवद्भक्त था। भगवान्के भक्त तो असुर, पशु, पक्षी—सभी होते हैं। भगवान्का भक्त होनेमें कोई रुकावट नहीं है। इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिए बज्र चलाया, परन्तु वृत्रासुरने ऐसा हाथ मारा कि बज्र इन्द्रके हाथसे छूटकर गिर गया। इससे इन्द्र शरमा गया—अब गिरा हुआ बज्र कैसे हाथमें उठाये। उस समय वृत्रासुरने कहा—इन्द्र! तुम डरो मत। शरमाओ मत। तुम फिरसे धरती पर गिरे हुए इस बज्रको उठाकर मेरे

ऊपर प्रहार करो। मेरे इस असुर शरीरको छुड़ाओ। मैं तो भगवान्‌का भजन करने चला हूँ। शरीरके रहने और छूटनेमें मुझे किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है।

पुरानी संस्कृतिकी बात हम क्या सुनायें। जहाँ चक्रवर्ती सम्राट् रघुने अपना सर्वस्व दान कर दिया। ब्राह्मणकी सेवा-पूजाके लिए उनके घरमें मिट्टीके बर्तन ही शेष रह गये थे। रामचन्द्रने चार हिस्से करके समूची पृथ्वीका ब्राह्मणोंको दान कर दिया था। इतने बड़े दाता, शूरवीर, और धर्मात्मा हमारे पूर्वज हुए हैं।

कुछ समय पहले लखनऊमें रामू नामक बालक भेड़ियोंके बीचमें-से पकड़ा गया था। उसको दो-तीन वर्ष तक शिक्षा दी गयी थी कि वह मनुष्यकी तरह बोले, मनुष्यकी तरह काम करना सीखे किन्तु ऐसा हुआ नहीं। वह तो भेड़ियोंकी तरह हाथ भी धरतीपर लगा कर चले और भेड़ियोंकी बोली बोले। अगर प्रकृति ही सबका ठीक-ठीक निर्माण कर देती तो वह मनुष्य बालक भेड़ियोंके साथ रहकर भी मनुष्योंकी बोली बोलता, मनुष्यका भोजन करता, उनके समान चलता। लेकिन प्रकृतिने भी उसका निर्माण नहीं किया। बालकोंको जैसे सिखाया जाता है, उसके अनुसार वह सीखते हैं। देखो अंग्रेजका बालक अंग्रेजी बोलता है। मुसलमानका बालक उर्दू बोलता है, फारसी-अरबी बोलता है। हिन्दूका बालक हिन्दी बोलता है। गंगाके किनारे, अनूपशहरमें हमारे अखिलानन्दजी कविरत्न थे। उनके माँ-बाप संस्कृतमें ही बोलते थे। उनको हिन्दी नहीं आती थी। बादमें सीखी। आप जैसा अपने भाईयोंको, अपने बालकोंको बनाना चाहते हैं, वैसे संस्कार उनके चित्त पर डालिये।

असलमें संस्कृतिके द्वारा ही हमारा यह जो विकृतिसे बना हुआ शरीर है, उसको यह स्थिति प्राप्त होती है जिससे यह शुद्धान्तःकरण होकर परमात्माको प्राप्त कर सके, ब्रह्मात्मैक्यबोध प्राप्त कर सके। जिसकी संस्कृति शुद्ध है जो अपनी कुलचर्याके अनुसार चलता है असलमें वही कल्याणका भाजन होता है। आप हमारा सारा इतिहास, रामायण, महाभारत, पुराण, गीता, प्राचीन गाथाएँ आदि पढ़ेंगे नहीं। यदि वही बात विलायतसे कोई विदेशी अंग्रेजी भाषामें लिखकर भेज दे, तो आप बड़े प्रेमसे पढ़ेंगे। संस्कृत, हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषामें कही गयी बातसे आप प्रेम नहीं करेंगे, तब हमारे पूर्वजोंकी क्या रहनी थी क्या संस्कृति थी, जीवनके निर्माणकी उनकी क्या पद्धति थी, इस बातको आप कैसे समझ सकते हैं?

श्रीमद्भगवद्गीता एक जाज्वल्यमान नक्षत्र है। जितने सद्गान हुए हैं भारतवर्षके ही नहीं, विश्वकी संस्कृतियोंके निर्माणके लिए जितने सब सद्ग्रंथ हुए हैं, उनमें यह सर्वश्रेष्ठ रत्न है, सर्वोपरि है। गीतामें ही पूर्वजोंका वर्णन है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ब्रवीत्॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

संस्कृति माने क्या? संस्कृति माने सवाँरना, अपने आपको सवाँरना। यह सवाँरना कैसे होता है। एक तो यदि शरीरपर मैल लगी हो तो उबटन लगाकर उसे छुड़ा दे। अधिकतर लोग मुंहको खूब रंग लेते हैं। किन्तु शरीरके दूसरे भागपर मैल लगी रहती है। तो यह मैल छुड़ाना हुआ दोषापनयन संस्कार, दोष दूर करनेवाला संस्कार, उबटन लगाना, साबुन लगाना आदि जिससे मैल छूट जाय। दूसरे तेल लगाना, रंग लगाना, जिससे शरीर सुन्दर मालूम पड़े। यह गुणाधान संस्कार कहलाता है। जैसे शरीरको सवाँरना होता है, मैलको दूर करके और रंग लगा करके। इसी प्रकार जो दोष दुर्गुणोंकी मैल लगी हुई है, काम-क्रोध-लोभ आदि जो दोष दुर्गुण हैं उनको दूर करनेका नाम संस्कृति है। इसके अन्दर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, भगवत्-भक्ति, विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि आते हैं। इन सद्गुणोंको अपने हृदयमें रखना संस्कृति है। दुर्गुणोंको दूरकर सद्गुणोंको अपने हृदयमें रखनेका नाम संस्कृति है। हमारे पूर्वजोंने इसी संस्कृतिके बलपर बहुत श्रेष्ठपद प्राप्त किया था। उन्होंने इन्द्रादि देवताओंको भी अपने वशमें किया था। उनकी सहायता की थी और सप्तद्वीपा वसुमती उनके हाथमें रहती थी। सप्तद्वीपा वसुमतीके वे अधिपति थे—

सप्तद्वीपा वसुमती, येन द्यावा पृथिवी वै दृढा।

स्वर्गतक भी उनका राज्य था। आकाशमें उनके रथ अप्रतिहत गतिसे चला करते थे। वे सूर्यका पीछा कर सकते थे और बृहस्पतिके पास जाकर भी विद्या सीखकर आया करते थे। हमारे पूर्वज गंगाजीका आचमन कर सकते थे, समुद्रको पी सकते थे। वे छलांग भरकर समुद्रको पार करते थे। यह शक्ति उन्हें प्राप्त थी अपने धर्मके द्वारा, अपनी संस्कृतिके द्वारा। जो मनुष्य अपने धर्म और संस्कृतिसे च्युत हो जाता है वह किसी कामका नहीं रह जाता। यह बात समझकर हमें अपने पूर्वजों द्वारा बतलाये हुए आदर्शोंपर चलना चाहिए।

येनास्य पितरो याता येन याता पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥

भगवान् मनुने कहा, जिस रास्तेसे तुम्हारे पिता चले हैं, तुम्हारे पितामह चले हैं, उसी रास्तेसे चलो। वहीं सन्तोंका मार्ग है। जो उसमें चलता है, उसकी कभी हानि नहीं होती। वह हमेशा परिपूर्ण रहता है।

●

गीताके संदेशको जीवनमें उतारना आवश्यक

दैनिक-जीवनमें गीताका महत्त्व

कुमारी श्री जयन्ती भट्टाचार्य एम० ए०

✶

गीता हिन्दूधर्मका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। आजतक बहुत बड़े-बड़े विद्वान् आचार्योंने गीताकी कर्मनिष्ठा, सांख्यनिष्ठा और भक्तिनिष्ठाका विशद विवेचन किया है। किन्तु मानव जीवनके प्रत्येक दिनके व्यवहारमें गीताका महत्त्व तथा उपयोगिता क्या है, उसीको यहाँ दिखलानेका प्रयत्न किया गया है। अगर हम प्रत्यहकी दिनचर्य्यामें गीताके अमृतमय उपदेशोंको कार्यान्वित करें तो हमारा यह विषमय जीवन अमृतमय हो जायगा, जिसका प्रयोजन आजके वैज्ञानिक युगमें अनिवार्य है।

व्यवहारमें समभाव :—

गीताका यह उपदेश है कि :—शत्रु-मित्र सभीके साथ समान व्यवहार करें—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। (गीता १२।१८)

यदि ऐसा समदर्शितापूर्ण वर्ताव हम कर सकें तो हमारा यह संघर्षमय जीवन सुखमय वन जाय। राग-द्वेष ही विनाशकी जड़ हैं। इन्हें त्यागकर हमें समदर्शिताका गुण अपनाना चाहिए।

राग-द्वेषसे रहित समत्वयुक्त कर्म करनेका जो गीताने संदेश दिया है, यह वड़ी ऊँची चीज है। यही परम शान्तिका राजपथ है।

कर्म करनेकी प्रेरणा गीतामें बहुत अधिक है। गीताका स्पष्ट संदेश है कि 'कर्म त्यागो ह्यकर्मण:' कर्म न करनेसे कर्म करना ही श्रेष्ठ है। गीता कर्मठ-जीवनका संदेश देती है, अकर्मण्यताका नहीं। कर्मको गीतामें बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। कर्म ही धर्म हैं। लेकिन प्रत्येक कर्म कर्तव्य-कोटिमें नहीं आ सकता। आजके वैज्ञानिक युगमें हम अधिकतर ध्वंसात्मक तथा उत्तेजनापूर्ण कार्य करते हैं वह भी तो कर्म है, गीता ऐसे कर्मोंके लिए आदेश नहीं देती। कर्म इस प्रकार हों जो कि निःस्वार्थ न्यायपूर्ण एवं शुभकर्म हों। इसप्रकार निष्काम कर्मका ही प्रयोजन हमारे व्यावहारिक जीवन में है। गीता यज्ञार्थ कर्मको महत्त्व देती है। परोपकारके लिए किया जानेवाला कर्म ही यज्ञार्थ कर्म है। थोड़ा बहुत उपकार हम सब कर सकते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने लिए कहा है कि मेरे लिए किसी विशेष यज्ञ-पूजाका आयोजन आवश्यक नहीं है। केवल पत्र, पुष्पादिके द्वारा भी, यदि वह भक्तिभावसे दिया गया हो मैं तृप्त होता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ (९। २६)

इस प्रकार अल्प-वस्तुके द्वारा भी हम भगवान्को संतुष्ट कर सकते हैं। कतिपय वयस्क लोग जो गीता पाठ करते हैं वह यह सोचते हैं कि गीता केवल दार्शनिक ग्रन्थ है

अथवा आध्यात्मिक जीवनमें ही इसका स्थान है। व्यावहारिक जीवनमें उसका स्थान उतना नहीं है। धार्मिक उपदेशक और वयोवृद्ध लोग जो दैनिक गीता पाठ करते हैं, सामाजिक दृष्टिकोणसे उन लोगोंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने परिवारवर्गको और आस-पासके लोगोंको गीताका जो महत्त्व व्यावहारिक जीवनमें है, उसकी शिक्षा दें और उसका जितना भी हो सके प्रचार करें, इससे ही सामाजिक प्रगति संभव है। आजकल पढ़े लिखे लोग भी गीताको केवल एक धर्मग्रन्थ समझकर उसका पाठ करते हैं; जीवन-यात्रा और चरित्रगठनमें इसकी विशेष आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु गीताका ध्येय केवल इतना ही नहीं कि गीता-पाठसे मानसिक सुख मिले और गीतापर विचार-विश्लेषण मात्र किया जाय, बल्कि नैतिक और वैज्ञानिक विकास ही गीताका मुख्य ध्येय है।

इस प्रकार हमारे दैनिक जीवनके व्यवहारमें गीताका उपदेश सर्वदा गृहणीय है। वही हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक ही नहीं, पारमार्थिक जीवनको भी सुखमय बना सकता है। गीता जीवनके हर क्षेत्रमें उपयोगी है और गीता एक अपूर्व तथा सौन्दर्य पूर्ण आध्यात्मिक कविता है जो कि सभीके लिए सुधामयी है।

●

धनुर्धर पार्थको योगेश्वर कृष्णका आदेश

(गीत)

अर्जुन, समझ, गीता-ज्ञान ?
आस्तिक वचनपर, दे ध्यान॥

वेद - शास्त्रों का निचोड़ा—अमृत - रस तू जान।
व्यर्थ संशय में न पड़ के—क्लीबता उर - आन॥
तू खड़ा हो, समर-भू में, कर स्वयं अनुमान।
इस समय कर्तव्य है क्या ? धर्म को पहचान॥
दिव्य नेत्रों से निरख तू—विगत हो, अभिमान।
सुमर मुझको, युद्ध कर तू, परम मंगल मान॥
जो मुड़ा तो विश्व में हो—अति मरण—अपमान।
पूछ तू अपने हृदय से, है जहाँ भगवान॥
शीघ्र,—अरि—अन्यायियों का-कर सखे! अवसान।
विजय—जय—श्री, हाथ तेरे—सुयश ले, वरदान॥

—जगन्नारायणदेव शर्मा
'कविपुष्कर' शास्त्री

सबका अन्तर्यामी

बाबूलाल 'श्रीमयंक'

★

ईश्वर विषयक ही चर्चा चल रही थी। सभी अपने-अपने मत अभिमत प्रेषित कर रहे थे तभी एक आधुनिक विचारवाला व्यक्ति सहसा बोल पड़ा ईश्वर कहाँ है, वह मिलता कैसे, कभी नजर तो आता ही नहीं ! यदि वह है तो नजर क्यों नहीं आता ? यदि है तो उसके प्रत्यक्ष हुए बिना विश्वास नहीं जमता और नहीं दान, पुण्य, तीर्थाटन, जप-तप आदिमें आस्था होती है। बात भी सही है "क्योंकि आजके इस बौद्धिक, नास्तिक तथा वैज्ञानिक युगमें किसी भी बातको बिना प्रमाणके स्वीकार ही नहीं किया जाता है।" यह सहसा चौंका देनेवाला प्रश्न था। सबकी आँखें उसकी ओर लग गयीं। सब हारी हुई सेनाकी तरह पीछे हट गये। प्रत्येक नास्तिकका यही प्रश्न होगा और बहुत-से अपने-अपने ढंगसे उत्तर देनेका प्रयत्न करते हैं पर सन्तुष्टिका कोई कारण नहीं मिलता है।

सभी कहते हैं, ईश्वर सर्वत्र, सर्वव्यापी, सबका निगूढ़ अन्तर्वासी है, और यह अक्षरशः सत्य है पर आज इस वैज्ञानिक युगमें मानव सहज जीवनसे जड़की ओर जा रहा है। जड़ जीवनसे हमारा तात्पर्य, ऐसा जीवन जो जीवनकी खोज न करता हुआ केवल सुख-सुविधाओंके लिए दूसरोंपर आश्रित रहता है। वह स्वयंकी बुद्धिसे नहीं सोचता, अपनी शक्तिसे काम नहीं लेता, तब वह ऐसा नहीं करता है तो उसे अपनी बुद्धि और शक्तिकी क्षमताका क्या पता चलेगा ? उसके ठीक-ठीक क्या उपयोग हो सकते हैं। जो आदमी नित्य सवारीमें चलता है उसे पैदल चलनेका क्या आस्वाद मालूम पड़ेगा। अतः दूसरोंसे अनुप्राणित जीवनको ही जड़ जीवन कहते हैं। सहज जीवन तो स्वयंकी बुद्धिसे, विवेकसे, पुरुषार्थसे अनुप्राणित होता है। यह जीवन चिन्तन, मनन और निदिध्यासनपर निर्भर करता है। उसे भले-बुरेकी पहचान होती है। सहज जीवन उन्नतिमय होता है और जड़ जीवन आलस, निराश तथा अवनतिमय होता है।

यह निर्विवाद बात है कि विज्ञानने मनुष्यको सुख-सुविधा, ऐश्वर्य प्रदान किया पर साथ ही बुद्धिका, चिन्तन शक्तिका दिवाला निकाल दिया। वह स्वयंके अनुभवकी अनुप्राणित प्रणालीपर विश्वास न करके दूसरोंके थोथे तर्कों, तथ्योंपर शीघ्र विश्वास कर लेता है। स्वयं प्रमाणोंको ठुकराकर अन्यके प्रमाणको ठीक मान लेता है। वह यह नहीं जानता कि जिन वस्तुओंका विकास हो रहा है, जो ऐश्वर्यको प्राप्त कर रहा है, या जिन सुख-सुविधाओंसे उसका मन लालायित है और जहाँसे ये भावनायें निसृत हो रही हैं उस शक्तिका केन्द्र कहाँ है ?

वह प्रत्येक प्रश्नका हल बाहरसे खोजना चाहता है। इसके लिए भी उसमें प्रबल निष्ठा नहीं हैं, बल्कि वह चाहता है कि बिना श्रम किये सप्रमाण उसे पेश कर दे, प्रत्यक्ष कर दे। मूल शक्तिके केन्द्रको भूलकर वह बाह्य जड़ शक्तिको केन्द्र मान रहा है। यह जड़ शक्ति केवल विकासवादके सिद्धान्त पर निर्भर करती है जिसने बहुत कुछ मटियामेट कर दिया है। महान् दार्शनिक योगी अरविन्दने इसे स्वीकार करते हुए कहा कि 'प्रत्येक वस्तु विकासके

परिवेशमें भ्रमण कर रही हैं किन्तु सभीमें, जड़से लेकर चैतन्य याने उर्ध्वस्थित मनुष्यमें समान चेतना निवास करती है। वह अपने स्वभावजन्य धर्ममें बँधी हैं। प्रत्येककी चेतना शक्ति दिव्य रूपान्तरके लिए अति उत्सुक है लेकिन जड़तामें बँधी होनेके कारण विवश है।' इस बातसे स्पष्ट जाहिर होता है कि मनुष्य जीवनको ईश्वरकी ओर अभिमुख न करके जड़ याने वहिर्मुखताको प्राप्त हो रहा है। इसी बातका समर्थन उपनिषद्में भी इस प्रकार किया गया है—'मनुष्यकी इन्द्रियोंके द्वार बाहरकी ओर ही रखा गया है ताकि वह अपने अन्तर्यामीको न जान सके किन्तु जो उनको अन्तर्मुख करके उसे जानने, देखनेकी चेष्टा करता है वह अपने अन्तर्वासी परमात्माको शीघ्र पा लेता है। जब मनुष्य बाहरकी ओर उसे खोजता है तभी ये प्रश्न उठते हैं, उनके हलके अभावमें उनकी असन्तुष्टि नास्तिकवादका रूप ले लेती है। यही विज्ञानने किया है क्योंकि उसने बाहरकी ओरसे ही उस अन्तर्निहित शक्तिका पता लगानेकी कोशिश की। जब उसे उसका पता लगा तो उसने ईश्वरके सिद्धान्तको एकदम अमान्य कर दिया एवं नास्तिकवादको जन्म दिया। हो सकता है डार्विनने भी यही सोचकर जड़को एक विकासवादकी संज्ञा दी हो।

कुछ भी हो, हम उसे बुद्धिसे, तर्कसे यदि जाननेकी चेष्टा करेंगे तो ईश्वर, खोजकी वस्तु न रहकर भटकनेकी वस्तुमात्र रह जायगी। वह ज्ञानका नहीं अज्ञानका हेतु बन जायगा। अतः उसे इन बन्धनोंसे हटाकर, जीवनकी गतिको दूसरोंके आश्रित न बनाकर, इस कार्यको अनिवार्य समझ उसकी खोज आरम्भ करनी होगी। बुद्धिको जड़त्वसे निकालकर चैतन्यताकी ओर अभिमुख करना होगा। इन जड़त्व प्रमाणोंको छोड़ तथा बुद्धिवादी तर्कोंके परिवेशसे निकालकर अपनी चित्तवृत्तियोंको उस बिन्दुपर केन्द्रित करना होगा जहाँसे उनकी सत्ता विकसित होती है। प्रत्येक वस्तु प्रकाशमय गोचर होती हैं।

आजका विज्ञान जो प्रमाण पेश करता है या हमारी बुद्धि जिन प्रमाणोंको स्वीकार कर विश्वास जमाती है वह जड़त्वका विश्वास है। इसके कारण वहिर्मुख होकर केवल यन्त्रारूढ़ अन्धकारका आश्रय ग्रहण करती है। इन आश्रयोंको छोड़कर तथा बुद्धि जो केवल इसके समर्थनमें प्रमाण पेश करती है और विज्ञान उसकी सहायता करता है, उसे भी छोड़ना होगा। वह विज्ञान नहीं जो भ्रमका उत्पादक हो, अन्धकारमें ले जाता हो। विज्ञान तो सदैव मनको, बुद्धिको प्रकाशकी ओर ले जाकर उस अन्तर्यामीसे सम्पर्क बनाता है। विवेकको विकसित कर जीवनको सहज बनानेमें सहायता करता है। विज्ञान जीवनके लिए जरूरी है पर वह नहीं जो केवल बाह्य हो। वह जो जीवनको ईश्वरकी ओर ले जाकर उसे ठीक विचार, भाव और व्यवहारमें लावे, व्यक्त करे।

यदि हम आजके विज्ञान पर भरोसा करके ईश्वरकी खोज करें तो वह तर्क, अन्धकार और भटकानेके सिवाय कुछ न करेगा किन्तु मनुष्य अपने जीवनमें जो नित्य देखता है उसके परे भी कुछ वस्तु हैं, जो न इस जड़ विज्ञानकी समझमें, न बुद्धिकी पकड़में आता है। बुद्धि बड़े-बड़े दार्शनिक सिद्धान्तों, ग्रन्थों आदिका निर्माण कर सकती है, पर उस तक उसकी पहुँच

नहीं है, न वह एकत्वको सिद्ध कर सकती है, जिस ईश्वरसे इसी जीवनमें एकता प्राप्त करनी है। यहाँ आकर एक क्षणके लिए ज्ञान भी अवरुद्ध हो जाता है क्योंकि वह भी बुद्धिसे ही अनुप्राणित होता है।

अब अन्तिम वात केवल हृदयकी रह जाती है। प्राचीन ऋषियोंने अपने अनुभवसे ऐसा सत्य उद्घाटित किया है कि हृदय ही एकमात्र परमात्माका निवास है। अपने हृदयगत भावोंसे ही हम जड़ चैतन्यमें एकत्व अनुभव कर सकते हैं। उसके दर्पणमें अपने अन्तर्यामीको देख सकते हैं। यहीं पर वह ज्ञान जो अब तक वुद्धिके परिवेशमें था, छोड़कर इसके दिव्य भावोंका प्रकाश ग्रहण करता है, इसमें अपने सच्चे अन्तर्यामीसे एकता महसूस करता है। भावात्मक एकता ही सच्ची एकता होती है।

भावोंका विकास विश्वासके माध्यमसे प्रेमद्वारा होता है। बुद्धिके तर्कोंको छोड़कर विश्वासका पल्ला पकड़ना पड़ेगा। विश्वासके बलपर ही वह हमें मिल सकता है। इस जड़ युगमें भी ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जिन्होंने उसके आधारपर ही साक्षात्कार किया और अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। रामकृष्ण परमहंस, चैतन्य महाप्रभु, विवेकानन्द, मीरावाई और अरविन्द इसके ताजे उदाहरण हैं। उन्होंने विश्वास, प्रेम और दिव्य भावोंसे जड़ वस्तु तकको प्रभावित किया, यही नहीं कई नास्तिक मनुष्योंके मनोभावोंको बदलकर उनके जीवनको सहज बनया।

जब यह विश्वास दृढ़ बन जाता है कि हमारे हृदयमें अन्तर्यामी रहता है तब हमें इस प्रेमको विशाल भावों द्वारा विस्तारित करना पड़ेगा। यह अनुभवमें लाना होगा कि वह जड़ चैतन्यमें समान रहता है। वही सबका अधिष्ठाता नियन्ता है। वह इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जाता है। उसे दिव्य नेत्रोंसे याने ज्ञानसे प्रेममय भावोंके प्रकाशमें देखा जायगा तभी उसका साक्षात्कार संभव होगा। बहुतसे ऋषियोंने इस तरह उस विराट् परमात्माके दर्शन किये हैं। उसकी पूजाके रूपमें बुद्धिको व्यावहारिक बनाया। उसे आधिभौतिक, अधिदैव एवं आध्यात्मिक पक्षोंसे देखना पड़ेगा जैसे आध्यात्म आँख, दिखलानेवाली रोशनी आधिदैविक और आधिभौतिक सूर्य, इन तीनोंकी एकता अनिवार्य होगी। इनमेंसे किसी एकको भी छोड़ दिया तो ठीक दर्शन न होगा।

साथ ही वाह्य पक्षोंको छोड़ अन्तर्मुख बनना पड़ेगा। इन सब मल-विक्षेपोंको भी हटाना पड़ेगा जो केवल अन्धकारका ही निर्माण करते हैं। इसके लिए ज्ञानमय प्रेमकी तेज अग्नि जलानी पड़ेगी जिससे हमारे भ्रम, व्यर्थके तर्क और जड़प्रमाण जो बाधक बनते हैं, सब जलकर खाक बन जायें। हृदय शुद्ध स्फटिक मणिकी तरह हो जिसके पास कुछ भी वस्तु रखें वह वास्तविक रूपमें ही दिखे, जिसमें वुद्धि, मन आदि कुछ भी हस्तक्षेप न करें। बस यही शुद्ध हृदय परमात्माका वास है और वे अन्तर्यामी अपनी रुचिके अनुसार रूप धारण करके उसे अपना प्रिय बना लेते हैं। अब वही छवि प्रेम रूपमें अणु-अणुमें गोचर होगी। प्रत्येक वस्तु उसके दिव्य प्रकाशमें चमकेगी। उसीसे अनुप्राणित होगी तब तुम कह उठोगे 'अरे जो मेरेमें है वही सबमें है, सबका अन्तर्यामी हैं।'

वह अन्तर्यामी सबमें है। वह लुप्त भी है, सभीसे अलिप्त भी है। वह निर्गुण रहते हुए गुणोंको धारण करता है। वह सभी रूपोंमें बसता है। अच्छे बुरेमें उसका प्रकाश है। सारा विश्व उसका विराट् रूप है। चन्द्र-सूर्य तारे आदि उससे प्रकाश पाते हैं। उसकी गतिमें सब गति करते हैं, उसकी गतिमें सब बँधे हैं। उसका ही दिव्य प्रकाश तुम्हारे हृदयमें है, उससे ही तुम्हारा अस्तित्व है। इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं। आँखें देखती हैं उसके प्रकाशमें, नाक सूँघता है उसकी सुगन्धमें, त्वचाका स्पर्श होता है उसके स्पर्शसे। भाव, विचार सब उसमें ही अनुप्रमाणित होते हैं। जिन बाह्य इन्द्रियोंसे उसे देखना चाहते हो वह, वह नहीं है। यही समस्याका कारण है, नहीं तो इन प्रश्नोंका उत्तर तुम्हारे इन प्रश्नोंमें ही सन्निहित है। तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा प्रकाशदाता, जीवनदाता, संचालन कर्ता है। वही सबमें अन्तर्यामी बनकर बैठा है। उसके प्रकाशमें प्रत्येक कार्य विचार-व्यवहार और भाव सम्पन्न होते हैं। इसको जान लेना ही सहज जीवनका कारण है।

तुम्हारे हृदयमें वह निर्गुण बनकर निवास कर रहा है। वही इष्टके रूपमें तुम्हारी आँखोंमें अनेक गुण धारण करके लीला कर रहा है, रसरूप और माधुरीकी दिव्य अनुभूति करा रहा है। वस्तुतः वही सबका अन्तर्यामी है यदि देख सको तो हियके दरपनमें देखो।

तुलसीदासजी कहते हैं—

> हिय निर्गुन नैनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

कुछ प्रश्न—

प्रश्न—सहज जीवन किसे कहते हैं ?

उत्तर—सहज जीवनसे सीधा तात्पर्य है, जड़ताको छोड़कर चैतन्यताकी ओर बढ़ना। प्रभु अन्तर्यामीकी ओर अभिमुख होना है। मनुष्यमें मनुष्यत्व पैदा करना है। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो इस जीवनको जीनेका अधिकारी है। इस अद्भुत सृष्टिमें कई योनियाँ हैं, लेकिन वे सब अपनी अन्ध जड़तामें बँधे हैं। उन्हें सोचने-समझने और स्वयंकी शक्तिसे कार्य करनेकी क्षमता नहीं है। वे सब बातें मनुष्यमें पायी जाती हैं। यदि मनुष्य सहज जीवनको छोड़कर जड़ जीवनको अपनाता है तो उसे अपने अन्तर्यामीके दर्शन नहीं होंगे। सहज जीवनकी विशेषताएँ जैसा कि—महाभारतके उद्योग पर्व अध्याय ३४ में आया है।

> न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
> न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥ ११२॥
> न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
> दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलम्॥ ११३॥

सहज जीवन जीने वाला मनुष्य शान्त, वैररहित होता है, अभिमानसे रहित तेज युक्त होता है, दुःखके होते हुए भी कर्त्तव्यसे च्युत नहीं होता है। सुख-दुःखमें सम रहता है, दूसरोंके दुःखमें प्रसन्न नहीं होता, कुछ देकर नहीं पछताता।

ऐसा सहज जीवन सदैव अन्तर्यामीकी ओर अभिमुख रहता है।

प्रश्न—आजका विज्ञान अन्धकारकी ओर ले जाता है, क्या उसे छोड़ देना चाहिए ?

उत्तर—बिल्कुल छोड़ देना चाहिए, क्योंकि जो वस्तु अन्धकारकी ओर ले जाती है वह कभी भी जीवनको उन्नत नहीं बनाती है। छोड़नेसे यह भी तात्पर्य नहीं कि उसकी उपयोगिता का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठावें। उठावें, लेकिन अपने अन्तर्यामीके प्रकाशमें सुख-सुविधाका लाभ तबतक ही उठाना चाहिए, जबतक वह अपने लक्ष्यमें सहायक हो। अवनतिके सभी साधनोंको त्याग देना चाहिए। यदि प्रत्येक वस्तुएँ अन्तर्यामीके प्रकाशमें देखी जावेंगी तो निश्चित उसके अवगुण दबकर गुण सामने आ जायेंगे। विज्ञानने ईश्वरको छोड़कर जड़त्वकी ओर देखा उसके कारण वह सुख-सुविधाओंको प्रदान करके भी मनुष्यको पूर्णतः सन्तुष्ट बनानेमें सफल नहीं हुआ। इसीको ईश्वरकी ओर मोड़ दे तो वह हमारे लक्ष्यमें अधिक सहायक होगा। उसके विनाशकारी परिणाम परमार्थमें बदल जायेंगे। इसलिये उसको छोड़नेके बजाय उसके प्रकाशमें संयमित होकर उसका अधिकसे अधिक मानव हितमें उपयोग करना चाहिए। जब प्रकाशको ग्रहण करेंगे तो अन्धकारके रहनेका कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता है।

प्रश्न—बुद्धिको ईश्वरमें कैसे अनुप्राणित किया जाय ?

उत्तर—बुद्धि मनके अधीन है। यद्यपि प्रत्येक निर्णयमें मन बुद्धिकी सहायता लेता है, फिर भी मन अपने अन्ध समर्थनोंसे उसे भ्रममें डाल देता है और उसका शासक बन बैठता है। इन्द्रियोंकी जो सहज प्रवृत्ति है उसे बुद्धिके अधीन और बुद्धिको अन्तर्वासी परमात्माके अधीन करना चाहिए। तात्पर्य अन्तर्मुख होना चाहिए। मनको बच्चेकी तरह समझाकर उसे भले-बुरेका ज्ञान कराते हुए ईश्वरमें आस्था दृढ़ करनी चाहिए। जब उसकी वृत्ति ईश्वरमें दृढ़ हो जायगी तब बुद्धि भी उसके प्रकाशमें सही निर्णय देने लगेगी। वह मनके अन्ध समर्थनोंसे मुक्त, निर्मल हो अपना सीधा सम्पर्क अपने निहित अन्तर्यामीसे स्थापित कर लेगी।

प्रश्न—अपने अन्तर्यामीको कैसे जाना जाय ?

उत्तर—इसकी सीधी सरल और अच्छी रीति सन्तोंने बतायी है 'सबको अपनेमें और अपनेको सबमें देखो।' इसे केवल देखना ही नहीं बल्कि आचरणमें भी लाना है। सब कुछ उसे अपना जानकर समर्पित करना है, स्वयंको होना है। कोई भी हो, किसी भी द्वन्द्वमें समभाव ग्रहण करना है। जब यह निष्ठा-विश्वास परिपक्व हो जायेंगे तब वह निश्चित अपना पर्दा उघाड़ कर तुम्हें मिलेगा। भगवान् गुरु स्वयं गीतामें फरमाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। १८।६१

बस सदा उसीका चिन्तन करो। उसको जाननेका यह अमोघ उपाय है।

●

उदार दृष्टि

'एक व्याप्य है, एक व्यापक। घड़ेमें मिट्टी ही है।' यह उदार दृष्टि है।

'व्याप्य-व्यापकका भेद कल्पित है। सब ब्रह्म ही है।' यह परमोदार दृष्टि है।

एक मित्र अपने मित्रके समीप कुछ रुपये लेने गया और उसकी पत्नीसे बोला—'चाबी मुझे दे दो।'

पत्नीने चाबी दे दी। तिजोरी खोलकर उसने सौ रुपये निकाले और तिजोरी बन्द करके चाबी लौटा दी। जाते समय मित्रकी पत्नीसे कह गया—'पाँच सौ रुपये ले जा रहा हूँ।'

पति घर आये तो पत्नीने बतलाया—'आपके मित्र आये थे। पाँच सौ रुपये ले गये हैं।'

पतिने पूछा—'तुम्हें कैसे पता लगा? क्या वह तुमसे माँगकर रुपये ले गया है?'

पत्नी—'रुपये तो चाबी लेकर उन्होंने स्वयं निकाले थे किन्तु जाते समय कह गये हैं कि पाँच सौ रुपये ले जा रहा हूँ।'

यह सुनकर पति उदास हो गया। पत्नीने पूछा—'आप उदास क्यों हो गये? वे आपके मित्र हैं। उन्हें आप सर्वस्व देनेकी बात करते हैं, फिर वे पाँच सौ रुपये ले गये तो इसमें उदास होनेकी क्या बात है?

पति—'वह सबका सब ले जाता तो भी कोई बात नहीं थी किन्तु जब मैं तिजोरीसे रुपया निकालकर ले जाता हूँ तो क्या तुम्हें बतलाकर ले जाता हूँ? उसने इस घरको अपना नही माना, तभी तो तुम्हें बतलाकर ले गया। मुझे दुःख यह है कि अभी हम दोनोंका हृदय एक नहीं हुआ!'

ईश्वर जब हमारी आत्मा है, हमसे अभिन्न है तो उसकी जो इच्छा हो ले जाय, जो इच्छा हो वह रख जाय। हममें उसमें भेद रहे, दुःखकी बात यह है।

—अपरोक्षानुभूति

अहोभाग्यम् !

•

यं चिन्वन्ति चिरन्तना मुनिवरा वुद्ध्यैकबोध्याध्वनि
यज्ज्ञातोऽपि न वेद वेदनिवहोऽप्यद्यापि तत्त्वार्थतः।
स श्रीमान् जगदादिहेतुरपि सानन्दोऽपि पुत्रात्मना
स्वैरं क्रीडति यत्र तद् व्रजजुषां भाग्यं किमाचक्ष्महे ॥

चिरन्तन मनीषी मुनिजन चिरकालतक सूक्ष्म बुद्धिद्वारा बोधगम्य मार्गमें जिनका अनुसन्धान करते रहते हैं; जिनकेद्वारा प्रकाशित वेदसमूह आजतक तात्त्विक रूपमें अपने प्रकाशकको नहीं ढूँढ सका, वही जगदादिकारण परमानन्द-स्वरूप श्रीमान् प्रभु पुत्र होकर जहाँ स्वच्छन्द क्रीडा करते हैं, उस व्रजमें रहनेवाले प्राणियोंके सौभाग्यका हम क्या वर्णन करें।

—श्री भक्तिरसायनम्

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुरा के लिए देवधर शर्मा द्वारा
आनन्दकानन प्रेस दुण्ढिराज, वाराणसी—१
में मुद्रित एवं प्रकाशित